प्र. 25-2-67

विपर्यय शब्दों की चमत्कारी रचना - संत सुन्दरदासजी

---

1. सुन्दर सब उलटो कहो, समझै संत सुजान।
और न जानै बापुरे, भरे बहुत अज्ञान॥

---

2. अन्धा तीनि लोक कौं देखै, बहिरा सुनै बहुत बिधि नाद।
नकटा बास कमल की लेवै, गूँगा करै बहुत संबाद॥
टूटा पकरि उठावै पर्वत, पंगुल करै नृत्य अह्लाद।
जो कोउ याकौ अर्थ बिचारै, सुन्दर सोई पावै स्वाद॥

"यहां अंधे से आशय है संसार-व्यवहार को ओर अन्तर-दृष्टि रखने वाला, बहिरे से आशय है अन्तर्ज्ञान-सिद्ध इस प्रकार के अनहद नाद का श्रोता, नकटे से मतलब है लोक-लाज, कुल-कानि से निःशंक, और कमल की बास से ब्रह्मानन्द के रस का आस्वादन। सभी अलौकिकताएं गुणातीत संत पर आरोपित कर यौगिक रहस्य प्रकट करता है" — नागरिक (नगर परिक्रमा लेखक)

स्व० रवीन्द्र कुमार पाटनी

जन्मदिवस ३-८-१९४७ | निधनदिवस १४-५-१९६०
जन्मस्थान आगरा | निधनस्थान आगरा

प्रिय पुत्र रवीन्द्र,

तुमने अपनी छोटी सी बाल्यावस्था मे ही धार्मिक सस्कारो से युक्त अपना जीवन बनाकर, अनेक तीर्थक्षेत्रो की वन्दना करके अपनी तीक्ष्णबुद्धि का परिचय दिया। इसीकारण तुमने शुरु से ही सारे परिवार का अत्यधिक प्रेम व सम्मान प्राप्त किया, लेकिन एकाएक १३ वर्ष की अल्पायु मे ही तुम्हारे आकस्मिक निधन ने हम सबके हृदय आन्दोलित कर दिये। अत तुम्हारी स्मृति मे स्थापित **'रवीन्द्र पाटनी चैरिटेबल ट्रस्ट'** की ओर से प्रस्तुत कृति धर्म-प्रेमी बन्धुओ को सस्नेह भेंटकर हम भावना भाते हैं कि सभी आत्मायें आत्मकल्याण के मार्ग पर अग्रसर होवें।

हम है तुम्हारे
पिता एव माता
सौभाग्यमल पाटनी एवं सौ० कचनबाई पाटनी

श्री सन्मति महिला स्वाध्याय मडल, पुष्प १

श्रीमद् राजचन्द्र कृत

अपूर्व अवसर

महान काव्य पर

आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के अपूर्व सरस प्रवचन

अनुवादक :

ब्र० गुलाबचंद जैन, सोनगढ

प. बंशीधर शास्त्री, एम. ए, कलकत्ता

सम्पादक

पण्डित राकेशकुमार जैन

शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य

प्रकाशक

श्री सन्मति महिला स्वाध्याय मंडल

२६०, लक्ष्मीनगर, नागपुर–४४००२२

प्रथमावृत्ति ११०० प्रतियाँ (गुजराती).

द्वितीयावृत्ति ११०० प्रतियाँ (गुजराती)

तृतीयावृत्ति ११०० प्रतियाँ (वि स २०२३)

चतुर्थावृत्ति . ११०० प्रतियाँ (वि स २०२८)

पचमावृत्ति ५००० प्रतियाँ (दिनाक २७-९-१९८५)

[दशलक्षण महापर्व १९८५ के अवसर पर प्रकाशित]

मूल्य : पाँच रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान

(१) श्री सन्मति महिला स्वाध्याय मडल
२६०, लक्ष्मीनगर, नागपुर-४४००२२

(२) पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५

(३) श्री वीतराग विज्ञान ग्रन्थालय
५८, गणेशनगर, नागपुर-४४०००९

मुद्रक :

प्रिन्टिंग हाउस
बैसाखिया मार्केट, गुडगंज,
इतवारी, नागपुर-४४०००२

प्रकाशकीय

(पचमावृत्ति)

श्री सन्मति महिला स्वाध्याय मडल, नागपुर की ओर से श्रीमद् राजचन्द्र द्वारा प्रणीत 'अपूर्व अवसर' नामक काव्य पर पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी द्वारा किये गये सरस प्रवचनो का सकलन 'अपूर्व अवसर प्रवचन' के नाम से प्रकाशित करते हुए हम गौरव का अनुभव कर रहे है। यद्यपि इन प्रवचनो का प्रकाशन करीब २५ वर्ष पूर्व मे गुजराती तथा हिन्दी भाषा में श्री दि जैन स्वाध्याय मदिर ट्रस्ट, सोनगढ एव श्री सेठी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, जयपुर से किया जा रहा है, तथापि स्वाध्याय प्रेमी आध्यात्मिक वैराग्य रसिक मुमुक्षु समाज मे इन प्रवचनो की माँग अभी भी बनी हुई है। इसी भावना को ध्यान रखते हुए इसका पुन प्रकाशन किया जा रहा है।

'श्री सन्मति महिला स्वाध्याय मंडल' — स्वाध्यायप्रेमी मुमुक्षु महिलाओ का ही एक सगठन है, जो नागपुर के पश्चिम सभाग मे विगत ५ वर्षों से कार्य कर रहा है। हमारी एक मात्र स्वाध्याय करने की गतिविधि भी बराबर अनवरतरूप से गतिशील है। यद्यपि यह महिलाओ द्वारा गठित सस्था है, तथापि स्वाध्यायप्रेमी पुरुष भी इसमे सक्रिय रूप से कार्य करते है।

विगत ८ माह पूर्व श्री टोडरमल दि जैन सिद्धान्त महाविद्यालय, जयपुर के स्नातक विद्वान पण्डित श्री राकेशकुमारजी शास्त्री, जैन-दर्शनाचार्य अपना ७ वर्षीय अध्ययन करने के उपरान्त पुन अपने निवास स्थान नागपुर मे जब आये, तब हमारे निवेदन को स्वीकार करते हुए उन्होने प्रति बुधवार यहाँ लक्ष्मीनगर में प्रवचन हेतु पधारने की स्वीकृति दी। उनका वह क्रम आज भी अनवरत रूप से चल रहा है। चूँकि उन्होने यहाँ नागपुर आकर अपना निजी प्रिन्टिंग प्रेस खोला है तथा जयपुर मे भी श्री कुन्दकुन्द कहान दि जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट की ओर से सचालित 'साहित्य प्रकाशन एव प्रचार विभाग' मे आध्यात्मिक ग्रथो के प्रकाशन का कार्य सभालते थे, अत उनकी सत्साहित्य के प्रकाशन की रुचि देखते हुए हमे भी यह भाव आया

कि क्यो न हम उनकी प्रतिभा का लाभ उठाते हुए उनकी देखरेख में ही अपनी सस्था से भी 'सत्साहित्य प्रकाशन' का कार्य प्रारभ करे।

जब हमने अपनी सस्था के सभी सदस्यो से इसकी बातचीत की तो सभी ने सहर्ष स्वीकृति दी, तब हम सबने मिलकर श्री राकेशजी शास्त्री से निवेदन किया तो उन्होने भी जिनवाणी के इस प्रचार-प्रसार के कार्य मे अपना पूर्ण सहयोग देने का आश्वासन दिया। अब क्या था – हमने अपने मडल से ही 'सत्साहित्य प्रकाशन' करने का निर्णय ले लिया।

पूज्य स्वामीजी के अपूर्व अवसर पर हुए प्रवचन बहुत ही सरस और वैराग्योत्पादक हैं, वे बहुत समय से अनुपलब्ध थे, अत· यह सोचा कि यदि उनका ही प्रकाशन किया जाये तो एक बहुत बडी कमी की पूर्ति होगी।

अब उसके प्रकाशन हेतु हमे एक प्रति की आवश्यकता थी, हम सब उसकी खोज कर ही रहे थे कि हमारे सपादक महोदय को नागपुर के ही मुमुक्षुभाई श्री सुदरलालजी जैन के यहाँ इसकी एक नही, विभिन्न सस्करणों की दो प्रतियाँ प्राप्त हो गईं।

हमारे सपादक महोदय ने जब इसे प्रकाशन की दृष्टि से पढना प्रारभ किया तो उन्हे इस प्रकाशन को अधिक से अधिक जनोपयोगी बनाने की दृष्टि से कुछ सुधार करना आवश्यक प्रतीत हुआ – इसकी चर्चा उन्होने हम लोगो से भी की, हमे भी उनकी बात उचित लगी।

पहले इस पुस्तक का क्राउन साइज २०X३०/१६ का था, जबकि यह सस्करण १८X२३/८ के डेमी साईज में है। पहले २१ छन्दो के प्रवचनो को धाराप्रवाह रूप से प्रकाशित किया गया था, जबकि इस सस्करण मे प्रत्यक छन्द का प्रवचन नये पृष्ठ से प्रारभ किया गया है। तथा प्रवचन के बाद जगह शेष रहने पर श्रीमद् राजचन्द्रजी के ही उद्धरणो को कोटेशन के रूप मे दिया गया है।

अपूर्व अवसर के मूल छन्द गुजराती भाषा मे होने के कारण हिन्दी भाषी पाठक गण उनका भाव पूरी तरह समझ नही पाते है, अतः श्रीमान राजमलजी पवैया, भोपालवालो के द्वारा बनाया हुआ

हिन्दी पद्यानुवाद भी प्रत्येक छन्द के साथ प्रकाशित किया गया है।

इसीप्रकार पुस्तक का गौरव बढाने हेतु तथा साहित्यिक दृष्टि-कोण को ध्यान रखते हुए कहीं-कही भाषा का परिमार्जन भी किया गया है। लम्बे-लम्बे पैराग्राफ छोटे किये गये है। हिन्दी भाषा की वियोगी प्रकृति होने से शब्दो के साथ जुडी हुई मात्राओ को अलग-अलग किया गया है, कतिपय स्थानो पर वाक्य-विन्यास मे भी सुधार किया गया है। ध्यान रहे यह जो कुछ भी परिमार्जन किया गया है उसमें पूज्य स्वामीजी के भावो को अक्षुण्ण रखा है। तथा पूर्व प्रकाशित प्रवचनो मे से एक भी वाक्य घटाया अथवा बढाया नही है।

श्रीमद् राजचन्द्र ने ऐसी भावभीनी रचना की है कि कोई नवीन पाठक पहली बार भी इसे सुनता या पढता है तो उसका मनमयूर नाच उठता है। पूज्य श्री कानजी स्वामी भी इस पद्य-रचना से बहुत प्रभावित हुए, उन्होने तो इन पद्यो पर वि म १९९५ मे प्रवचन भी किय। इन पद्यो मे श्रीमद् द्वारा भायी गई भावना को पढकर उन्हे तो ऐसा प्रतीत होता था कि मानो श्रीमद् राजचन्द्र अगले भव में ही पूर्ण निस्सग अवस्था का धारण करके परिपूर्ण मोक्ष-अवस्था को प्राप्त करेगे। ऐसी भावना उन्होने इस प्रवचन शृखला में अनेको बार अभिव्यक्त भी की है।

पूज्य स्वामीजी स्वय अनेक स्थलो पर अत्यन्त भाव-विभोर हो गये है। छन्द १६ पर प्रवचन करते हुए पृष्ठ १११ पर वे कहते है :–

"ऐसी रुचिवाला रात-दिन आत्मा को ही देखता है जानता है और विचार करता है कि मै अशरीरी हो जाऊँ। मै मानो महान सन्त मुनिवरो के सत्सग मे बैठा हूँ, मै मुनि हो गया हूँ, मुमुक्षुओ का समुदाय एकत्रित है, नग्न निर्ग्रन्थ मुनियो के सघ मुझे दिखाई पडते है, मै मानो मुनि होकर मोक्षदशा मे पहुँच गया हूँ, आदि प्रकार के स्वप्न ज्ञानी देखा करता है।"

पूज्य श्रीमद् एव पूज्य स्वामीजी दोनो की भावनाओ को आधार बनाकर ही इस पुस्तक के कवर पृष्ठ पर भी इसी भावना का द्योतक चित्र दिया गया है। मानो महामुनि जगल मे ध्यानस्थ

विराजमान है और उक्त दोनो महापुरुष उन्ही के समान स्वय होने की भावना करते हुए कहते है – **अपूर्व अवसर ऐसा कब मेरे आयेगा।**

सर्वप्रथम हम श्रीमद् राजचन्द्रजी के अत्यन्त आभारी है, जिन्होने ऐसी छन्दोबद्ध रचना बनायी, जिससे वैराग्य रसिक मुमुक्षु समाज अत्यन्त आह्लादित हुआ। तत्पश्चात् पूज्य स्वामीजी के हम अत्यन्त आभारी है, जिन्होने 'अपूर्व अवसर' के गूढ भावो को रहस्योद्घाटित किया। ब्र० गुलाबचदजी जैन एवं श्री बशीधरजी शास्त्री, के भी आभारी है, जिन्होने इसके पूर्व-प्रकाशन में सहयोग दिया।

पण्डित राकेशकुमारजी शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य ने भी यथायोग्य परिश्रम करके इस सस्करण का योग्य सपादन कार्य किया है, जिससे पाठको को भाव हृदयगम करने मे विशेष सुविधा होगी। अत हम उनके भी आभारी है।

श्रीमान प. राजमलजी पवैया, भोपाल के भी आभारी है, जिनके पद्यानुवाद से हिन्दी भाषी पाठको को मूल 'अपूर्व अवसर' काव्य समझने मे सहायता मिली है। इनके अलावा हम उन सभी महानुभावो का भी हृदय से आभार मानते है, जिनके आर्थिक सहयोग से हमारी सस्था प्रकाशन के इस महत्कार्य को मूर्तरूप दे सकी है। इससे भविष्य में भी हम आध्यात्मिक ग्रथो के प्रकाशन का कार्य कर सकेगे।

प्रस्तुत प्रकाशन को लागत से भी कम मूल्य मे बिक्री करने हेतु जिन महानुभावो का सहयोग मिला है, उनके भी हम आभारी है।

उक्त दोनो प्रकार के दातारो के नाम क्रमश पृष्ठ १० एव ११ पर प्रकाशित किये गये है।

यदि भूलचूक में कतिपय उन महानुभावो का उल्लेख न कर पाये हो, जिनका हमे किंचित् भी सहयोग प्राप्त हुआ है, उसके लिए हम हृदय से क्षमाप्रार्थी है।

अन्त में यही भावना है कि सभी पाठकगण 'अपूर्व अवसर प्रवचन' इस पुस्तक से लाभान्वित होकर अपना मनुष्यजन्म सार्थक करे।

– **वसन्तराव सावरकर**, व्यवस्थापक

दिनाक :
२७–९–१९८५ सत्साहित्य प्रकाशन विभाग, श्री सन्मति महिला स्वाध्याय मडल

प्रस्तावना

सुप्रसिद्ध जैन-तत्त्ववेत्ता परमपूज्य समयज्ञ श्रीमद् राजचन्द्रजी ने सवत् १९५२ के मगसिर माह मे अपनी जन्मभूमि ववाणिया मे 'अपूर्व अवसर' नामक काव्य की रचना की थी। वे वीतराग के महान उपासक और आत्मज्ञानी थे। उनको बाल्यावस्था मे ही जातिस्मरण ज्ञान हुआ था। उनकी निवृत्ति की अभिलाषा थी, निवृत्ति की भावना इस काव्य में बहुत सुन्दर और प्रभावक रीति से व्यक्त की गई है।

यह काव्य जैन समाज व अन्य धर्मानुयायियो में भी बहुत प्रसिद्ध है, प्रिय है और अनेक स्थानो पर प्रार्थनारूप मे पढा जाता है।

श्रीमद् ने यह भावना अपने निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट होने के बाद भायी थी, इससे ऐसा समझना चाहिये कि धर्म का प्रारम्भ निश्चयसम्यग्दर्शन होने पर ही होता है। निश्चयसम्यग्दर्शनपूर्वक ही सच्चा चारित्र हो सकता है – यह सिद्धात इस काव्य मे स्पष्ट रूप में प्रतिपादित किया गया है।

श्रीमद् ने सर्वज्ञ-वीतराग कथित द्रव्य और भाव साधकत्व प्रगट कर केवलज्ञान-प्राप्ति के तीव्र पुरुषार्थ की भावना की है और उस दशा को शीघ्र प्रगट करने के किये वे अत्यन्त उत्सुक थे, यह इस काव्य से ज्ञात होता है। इस काव्य की नवमी गाथा में द्रव्यलिंगी और भावलिंगी साधु के स्वरूप का वर्णन सुन्दर रीति से किया गया है तथा उपसर्ग के आने पर ज्ञानी की कैसी दशा होती है – यह भी इसमें बताया गया है।

इस काव्य मे गम्भीर तत्त्व का रहस्य सन्निहित किया गया है। वि स १९९५ में राजकोट मे श्री कानजी स्वामी ने भी महान उपकार किया कि उन्होने इस काव्य पर सरस प्रवचन किये। उन प्रवचनो मे इस काव्य का गूढ रहस्य अति सरल, सुन्दर और स्पष्ट भाषा में प्रगट किया है। इससे मुमुक्षुओ को बहुत लाभ हुआ। ब्र गुलाबचदजी ने

७ मुनि की साधक-दशा मे २८ मूलगुण अवश्यमेव निमित्त होते है।

८ मुनि को छट्ठे गुणस्थान में आहार लेने का विकल्प होता है, वहाँ आहार लेने की वृत्ति है, किन्तु मूर्च्छा या लोलुपता नही है।

९. गृहस्थावास में कषाय का सर्वथा त्याग नही हो सकता, इसलिए सच्चा मुनित्व होना चाहिए और वह नग्न वस्त्र-रहित के ही होता है।

१०. वह अपूर्व अवसर धन्य है, जब देह मात्र सयम के लिए ही हो, नग्न रहे, किन्तु वस्त्र नही हो, द्रव्य और भाव दोनो से नग्न-निर्ग्रन्थ हो।

११ जैनधर्मानुसार तीनो काल में नग्न दिगम्बर निर्ग्रन्थदशायुक्त साधक-अवस्थारूप मुनिमार्ग ही केवलज्ञान प्रगट करने का प्रयोग है।

स्वामीजी के समयसारादि आध्यात्मिक ग्रथो के प्रवचनो के हिन्दी भाषा में अनुवाद प्रकाशित होते रहे है। इससे साधारण हिन्दी भाषा-भाषी व्यक्ति यह धारणा कर लेता है कि स्वामीजी केवल अध्यात्म की बात ही करते है एव व्यवहार की उपेक्षा करते है किन्तु ऐसा नही है, क्योकि उन्होने अनेक भक्तिकाव्य, श्रावकाचार, भक्तामरादि स्तोत्र पर भी प्रवचन किये हैं।

मै समझता हूँ कि यदि श्री दि जैन स्वाध्याय मदिर ट्रस्ट, सोनगढ एव अन्य मुमुक्षु मडल स्वामीजी के व्यवहारधर्म-पोषक प्रवचनो को प्रकाश मे लाएँ तो अनेक व्यक्तियो की अपूर्ण जानकारी पर आधारित भ्रात धारणाओ का निरमन हो जावेगा।

मैने इस प्रवचनो का हिन्दी अनुवाद इसी भावना से किया था कि हिन्दी भाषा-भाषियो को स्वामीजी की मुनिधर्म के प्रति श्रद्धा की झलक मिले एव मुनिधर्म का स्वरूप ज्ञात हो, जिसमें शिथिलाचार को स्थान नही है।

आशा है पाठक-गण श्रीमद् राजचद्रजी एव स्वामीजी की भावना का उपयोग अपने कल्याण के लिए करेगे।

—(स्व.) बशीधर शास्त्री, एम ए, जयपुर

प्रस्तावना

सुप्रसिद्ध जैन-तत्त्ववेत्ता परमपूज्य समयज्ञ श्रीमद् राजचन्द्रजी ने सवत् १९५२ के मगसिर माह मे अपनी जन्मभूमि ववाणिया मे 'अपूर्व अवसर' नामक काव्य की रचना की थी। वे वीतराग के महान उपासक और आत्मज्ञानी थे। उनको वाल्यावस्था मे ही जातिस्मरण ज्ञान हुआ था। उनकी निवृत्ति की अभिलाषा थी, निवृत्ति की भावना इस काव्य में बहुत सुन्दर और प्रभावक रीति से व्यक्त की गई है।

यह काव्य जैन समाज व अन्य धर्मानुयायियो में भी बहुत प्रसिद्ध है, प्रिय है और अनेक स्थानो पर प्रार्थनारूप मे पढा जाता है।

श्रीमद् ने यह भावना अपने निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट होने के वाद भायी थी, इससे ऐसा समझना चाहिये कि धर्म का प्रारम्भ निश्चयसम्यग्दर्शन होने पर ही होता है। निश्चयसम्यग्दर्शनपूर्वक ही सच्चा चारित्र हो सकता है – यह सिद्धात इस काव्य में स्पष्ट रूप में प्रतिपादित किया गया है।

श्रीमद् ने सर्वज्ञ-वीतराग कथित द्रव्य और भाव साधकत्व प्रगट कर केवलज्ञान-प्राप्ति के तीव्र पुरुषार्थ की भावना की है और उस दशा को शीघ्र प्रगट करने के किये वे अत्यन्त उत्सुक थे, यह इस काव्य से ज्ञात होता है। इस काव्य की नवमी गाथा में द्रव्यलिंगी और भावलिंगी साधु के स्वरूप का वर्णन सुन्दर रीति से किया गया है तथा उपसर्ग के आने पर ज्ञानी की कैसी दशा होती है – यह भी इसमें वताया गया है।

इस काव्य मे गम्भीर तत्त्व का रहस्य सन्निहित किया गया है। वि स १९९५ में राजकोट मे श्री कानजी स्वामी ने भी महान उपकार किया कि उन्होने इस काव्य पर सरस प्रवचन किये। उन प्रवचनो मे इस काव्य का गूढ रहस्य अति सरल, सुन्दर और स्पष्ट भाषा मे प्रगट किया है। इससे मुमुक्षुओ को वहुत लाभ हुआ। ब्र गुलाबचदजी ने

स्वामीजी के प्रवचनो से यह पुस्तक लिखी थी । वहने, युवा और वृद्ध सव किसी के समझने योग्य इन प्रवचनो से सव कोई लाभ ले – ऐसा मेरा अनुरोध है ।

श्री वशीधरजी शास्त्री एम ए, कलकत्तावालो ने इस पुस्तक का अनुवाद खास प्रेमपूर्वक भेट दिया है । आपको इस साहित्य का इतना प्रेम है कि आपने वीरवाणी में इसके १२ पद्य तक का प्रवचन छपवाया है और पुस्तकरूप में छप जाय, अच्छा प्रचार हो – ऐसी प्रेरणा की है । अत॰ उनका आभार मानता हूँ ।

इस पुस्तक की गुजराती मे तीसरी आवृति समाप्त होने पर अनेक मुमुक्षुओ की माँग पर यह चौथी आवृत्ति हिन्दी मे प्रकाशित की गई है । उसमे ब्र गुलावचदभाई ने योग्य शुद्धि की है । फिर भी कोई भूल हो तो पाठक सुधार ले । अन्त मे इस पुस्तक को शान्त चित्त से पढने की जिज्ञासुओ से प्रार्थना करते हुए मैं लेखनी को विराम देता हूँ ।

वीर स. २४८७
वि स २०१७
दशलक्षणी पर्व

रामजी माणेकचन्द दोशी
प्रमुख (भूतपूर्व)– श्री दि. जैन स्वाध्याय मदिर ट्रस्ट
सोनगढ (सौराष्ट्र)

प्रस्तुत प्रकाशन का मूल्य कम करनेवाले दातार

१	श्री सुन्दरलालजी जैन, नागपुर	११०१/-
२.	श्रीमती त्रिशलादेवी अशोक चवडे, भंडारा	५०५/-
३.	श्रीमती चन्दादेवी प्रकाश श्रावणे, भडारा	५०५/-
४.	दिगम्बर जैन ट्रस्ट, बैंगलोर	५००/-
५.	श्री वसंत सावरकर, नागपुर	५००/-
६.	श्री सुधाकर सावळकर, नागपुर	५००/-
७.	श्रीमती बिमलादेवी काशिनाथ जैन, नागपुर	२५१/-
८	ब्र श्री. यशपाल जैन, जयपुर	१११/-
९.	श्रीमती वनमालाबाई सुरेश कान्हेड, नागपुर	१०१/-
	कुल :	४०७४/-

साहित्य प्रकाशन हेतु आर्थिक सहयोग देनेवाले दातार

१.	श्री सुन्दरलालजी जैन, नागपुर	१०००)
२.	श्री सुरेश कान्हेड, नागपुर	१०००)
३	मेसर्स बच्चुलाल हुकुमचन्द अॅन्ड सन्स, यवतमाळ	७५१)
४	श्री जीवनलाल वीरचन्दभाई मेहता, खामगाव	७५१)
५.	श्रीमती इंदिराबाई तात्याजी सावरकर, आर्वी	५०१)
६	श्री फुलचन्द हंसराज दोशी, नागपुर	५०१)
७	सौ कमल बाहुबली पुर्वत, सोलापुर	५०१)
८	श्री कान्तिभाई मोटाणी, बम्बई	५०१)
९	श्री आदिनाथजी नखाते, नागपुर	५००)
१०	श्रीमती मालिनी बसंत मावरकर, नागपुर	५००)
११	श्रीमती सिमा शरदचन्द्र वानाईत, नागपुर	५००)
१२	श्री मिठ्ठुलालजी मुन्नालालजी मोदी, नागपुर	५००)
१३	श्री चिमणभाई मावाणी, बम्बई	२५१)
१४	श्री नितिनभाई शाह, वाळकेश्वर	२५१)
१५	श्री माणकलाल रामचन्द गांधी, बम्बई	२५१)
१६	श्रीमती निलीमा संजय नखाते, नागपुर	२५१)
१७	श्री चन्द्रकुमारजी महेन्द्रकुमारजी जैन, नागपुर	२५१)
१८	श्री शांतिभाई जवेरी, बम्बई	२५०)
१९	श्रीमती प्रतिभा किरण मेघळ, नागपुर	२५०)
२०	श्री किशोरभाई मोटाणी, बम्बई	२०१)
२१	श्री जयंतीभाई दोशी, दादर	२०१)
२२	श्री हिम्मतलाल रमिकलाल शाह, बम्बई	२०१)
२३	श्री अनिलभाई कामदार, बम्बई	२०१)
२४	श्रीमती मालतीबाई निर्मलकुमारजी जैनी, नागपुर	२०१)
२५.	श्री रमेशकुमारजी जैन मोदी, नागपुर	२०१)
२६	श्री महासुखलालजी जैन अजमेरा, नागपुर	२०१)
२७	श्रीमती गौराबाई शिखरचन्दजी मोदी, नागपुर	२०१)
२८	श्री रमेशकुमार शीलचन्दजी जैन भाईजी, नागपुर	२०१)
२९	श्री जेठालालजी हंसराजजी दोशी, सिकंदराबाद	२०१)
३०	श्री पोहरे ब्रदर्स, नागपुर	२०१)

३१	श्री हुकुमचन्दजी गहाणकरी, नागपुर	२०१)
३२	श्री सिंघई मुलायमचन्दजी कस्तुरचन्दजी, छपारावाले	१५१)
३३	श्री धन्यकुमारजी वेलोकर, ढासाळा	१११)
३४. प	श्री धन्नालालजी जैन, ग्वालियर	१०५)
३५	श्री ज्ञानचन्दजी जैन, नागपुर	१०१)
३६.	श्री जे पी. जैन, नागपुर	१०१)
३७	श्री रामनारायणजी अग्रवाल, नागपुर	१०१)
३८	श्री कस्तुरचन्दजी जैन, नागपुर	१०१)
३९.	श्रीमती कुमुद अकोल खेडकर, गोंदिया	१०१)
४०.	श्री आज्ञादकुमारजी जैन, नागपुर	१०१)
४१	श्री कुन्दनलालजी मोदी, नागपुर	१०१)
४२	श्री भाऊसाहेब चवडे, नागपुर	१०१)
४३.	श्री कैलाशचन्द्र जैन, नागपुर	१०१)
४४	श्री भैय्यासाहेब मारवडकर, नागपुर	१०१)
४५	श्री गुलाबचन्दजी खुशालचन्दजी जैन, नागपुर	१०१)
४६	श्री नरेन्द्रकुमारजी अमीरचन्दजी जैन, नागपुर	१०१)
४७	श्री भैय्यासाहेब भुसारी, नागपुर	१०१)
४८	श्री जयकुमारजी किसनलालजी देवडिया, नागपुर	१०१)
४९	श्री आर. जे जैन, नागपुर	१०१)
५०	श्री कमलाकर मारवडकर, नागपुर	१०१)
५१.	श्री कोमलचन्दजी हजारीलालजी जैन, नागपुर	१०१)
५२	श्री विजयकुमारजी श्रेयासकुमारजी जैन, नागपुर	१०१)
५३	श्री महादेवरावजी उदापुरकर, नागपुर	१०१)
५४	श्रीमती शकुतलाबाई आहाळे, पुसद	१००)
५५	श्री सुलोचनादेवी सुरेशबाबू जैन, नागपुर	१००)
५६	श्री कृष्णचन्द्र जैन, सागर	१००)
५७	श्री शान्तीलालजी शाह, कलकत्ता	१००)
५८	श्री बालचन्दजी पाटणी, कलकत्ता	१००)
५९	फुटकर राशियाँ	९३३)
	कुल :	१५३९२)

गुणस्थानक क्रमारोहण परमपद प्राप्ति की भावना

श्रीमद् राजचंद्र प्रणीत

अपूर्व अवसर

पर

श्री कानजी स्वामी के प्रवचन

इस काव्य में मुख्यतया परमपद (मोक्ष) की प्राप्ति की भावना व्यक्त की गई है। आत्मा त्रिकाल ज्ञातादृष्टास्वरूप अनन्त गुणों का पिण्ड है, उसका अनुभव करने के लिए सर्वज्ञ वीतराग की आज्ञानुसार तत्त्वार्थों की निश्चयश्रद्धा होती है, तत्पश्चात् ज्ञानानन्द स्वभाव की तरफ प्रवृत्त होने का पुरुषार्थ बढ़ने से क्रमशः शुद्धता की वृद्धि होती है। इस अपेक्षा से जीव की अवस्था में १४ गुणस्थान होते हैं। उनमें से चौथे गुणस्थान से विकास की श्रेणी प्रारम्भ होती है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने अपनी जन्मभूमि, ववाणिया (सौराष्ट्र) में प्रातःकाल अपनी मातुश्री की शय्या पर बैठकर इस 'अपूर्व अवसर' नामक काव्य की रचना की थी।

जैसे महल के ऊपर चढ़ने के लिये सीढ़ियाँ होती हैं, वैसे ही मोक्षरूपी महल में जाने के लिये १४ सीढ़ियाँ हैं। उनमें से प्रथम सम्यग्दर्शनरूप चौथे गुणस्थान से मंगलमय प्रारम्भ होता है। आत्मस्वरूप की जागृति की वृद्धि के लिये यह भावना है।

छन्द १

अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ?
क्यारे थइशुं बाह्यांतर निर्ग्रन्थ जो ?
सर्व संबंधनुं बंधन तीक्षण छेदीने ?
विचरशुं कब महत्पुरुष ने पंथ जो ?
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ।।१।।

हिन्दी पद्यानुवाद

अपूर्व अवसर ऐसा कब मेरे आएगा,
कब होऊँगा बाह्यांतर निर्ग्रन्थ मैं ।
सब प्रकार के मोहबन्ध को तोडकर,
कब विचरूँगा महत् पुरुष के पन्थ में ।
अपूर्व अवसर ऐसा कब मेरे आएगा ।।१।।

छन्द १ पर प्रवचन

गृहस्थ धर्मात्मा आत्मा की प्रतीति सहित पूर्णता का लक्ष्य रखते हुए तीन प्रकारके मनोरथ (भावना) भाता है –

(१) मैं सब सम्बन्धो से छूटूँ । (२) स्त्री आदि बाह्य परिग्रह तथा कषायरूप अभ्यतर परिग्रह का पुरुषार्थ द्वारा त्यागकर निर्ग्रन्थ मुनि होऊँ । (३) मैं अपूर्व समाधिमरण प्राप्त करूँ ।

दूसरी तरफ ससारी मोही जीव यह मनोरथ (भावना) भाता है कि मैं गृहस्थ कुटुम्ब की वृद्धि करूँ, धन, घर, पुत्र, परिवार की वृद्धि हो और अपना हरा-भरा खेत (भरा-पूरा परिवार) छोडकर मरूँ, ऐसी विपरीत भावना ही ससारी जीव भाता है ।

'अपूर्व अवसर' का अर्थ बाह्य अपूर्व काल नही है, किन्तु इसका अर्थ आत्मद्रव्य में अपूर्व स्वकाल होता है, वह शुद्धस्वभावकी परिणति है । प्रत्येक वस्तु स्वचतुष्टययुक्त है, स्वाधीन है । वह स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावरूप है, वह नित्य टिककर परिणमती है ।

पहले अज्ञानभाव में आत्मा रागादि परभाववाला होकर पररूप अपने को मानता हुआ परिणमन करता था, किन्तु जब यथार्थ सत्समागम द्वारा अत्यन्त पुरुषार्थ से शुद्धात्मा की अंतरंग प्रतीति की, तब स्वभाव में परिणमन हुआ। वह परिणमन ही इस आत्मा की शुद्ध अवस्था का काल है, वही 'स्वकाल' कहलाता है। आत्मज्ञान द्वारा स्वभाव का भान रहता है, किन्तु जब तक पूर्ण शुद्धपर्याय प्रगट नहीं हुई, तब तक उसे पूर्ण करने के लिए स्वरूप के भान सहित यह भावना है।

'अपूर्व' शब्द में अनेक अर्थ गर्भित हैं, इसलिए इस 'अपूर्व' मांगलिक शब्द से भावना का प्रारम्भ किया गया है। पहले अनुत्पन्न अपूर्व (स्वभाव-काल) कैसे आएगा ?– इस मनोरथ को साधक साधता है। मनोरथ होने में मन तो निमित्त है, किन्तु ज्ञान द्वारा उसको अस्वीकार कर साधक जीव स्वरूप-चिंतन की जागृति का उद्योत करता है। स्वरूप की भावना (मनोरथ) का प्रवाह चलता है। उसके साथ स्वभाव-परिणति का प्रवाह भी चलता है। उस भावना में मन का निमित्त है तथा राग का अंश है। उसमें विचार का क्रम होता है और तब लोकोत्तर पुण्य का बंध सहज ही हो जाता है, किन्तु प्रारम्भ से ही उसका अस्वीकारता है। उसे भेदों और विकल्पों का आदर नहीं है, किन्तु अतीन्द्रिय भावमनोरथ द्वारा स्वरूप चितवन है। तत्त्वस्वरूप की भावना विचारते हुए अपने मन का निमित्त आता है।

पूर्ण शुद्धात्मस्वरूप सिद्ध परमात्मा जैसा है – ऐसा अपना स्वरूप लक्ष्य में रखकर पूर्णता के लक्ष्य से श्रीमद् आत्मस्वरूप की भावना करते हैं। ऐसी यथार्थ निर्ग्रन्थ दशा, स्वरूप-स्थिति का अपूर्व अवसर कब होगा – ऐसी अपने स्वभाव की भावना है।

मैं कब अंतरंग एवं बहिरंग से निर्ग्रन्थ होऊँगा – अर्थात् अभ्यंतर राग-द्वेष की ग्रन्थि से और बाह्य (स्त्री, धनादि तथा कुटुम्ब) से निवृत्त होऊँ – यह भावना भाता है।

अहो ! वह वीतरागदशा धन्य है ! वह निर्ग्रन्थ मुनिपद धन्य है ! वह पूर्ण दिगम्बर सर्वोत्कृष्ट साधक दशा धन्य है !

सर्व सम्बन्धो का बन्धन तीक्ष्ण छेदकर – शारीरिक, मानसिक तथा द्रव्यकर्म का सम्बन्ध (मोह) छोडकर मुनिदशा प्रगट करूँ, आत्मा अबन्ध स्वरूप है, उसके ज्ञान की स्थिरता को सूक्ष्म रीति से जान कर, मै भेदज्ञान द्वारा कर्मोदय की सूक्ष्म सधि को नष्ट करूँ – ऐसी यह भावना है। आत्मस्वरूप के भान द्वारा रागरहित ज्ञान में स्थिरता होते ही अनादि सतानरूप ससारवृक्ष की मूल राग-द्वेष की गाँठ छिन्न-भिन्न होकर नष्ट हो जाती है।

महान् पुरुषों के मार्ग में कब विचरूँगा – ससार मे स्वच्छन्दी लडका इच्छा करता है कि कब मेरा पिता मरे और मै सब अधिकार और कारोबार कब्जे मे करूँ? उससे विपरीत इस लोकोत्तर मार्ग का साधक जीव यह भावना भाता है कि अतीन्द्रिय ज्ञान-दर्शन-चारित्र-स्वरूप मोक्षमार्ग मे प्रवर्तन के लिए तीर्थंकर भगवान कब मिले और कोई महान् बुद्धिमान निर्ग्रन्थ जिस पथ मे, आत्मस्वरूप मे विचरते है, उस पथ म मै वीतराग कुल की टेक-मर्यादानुसार कब विचरूँगा? यह सनातन शाश्वत आत्मधर्म का सद्भूत व्यवहार है।

अनन्त ज्ञानी पुरुषो ने जिस पथ मे विचरण कर मोक्ष पद को प्राप्त किया, उस ही पथ मे मै कब विचरूँगा? – इस भावना मे अनन्त ज्ञानी भगवन्तो के प्रति विनय व्यक्त किया गया है। साधक को अपनी पतित अवस्था का भी ज्ञान है, क्योकि असीमित सामर्थ्यवाले ज्ञान की पहचान हुई है, किन्तु अभी प्रगट नही हुआ है – ऐसा वह जानता है। यह पुराण-पुरुष (सत्पुरुष) की आराधना है, इसमें कितनी निर्मलता है। अपने आत्मधर्म का विकास हुआ है, इसलिये साधक अनन्त ज्ञान का बहुमान करता है, वह परमार्थ का आदर है।

श्रीमद् राजचन्द्र सम्यग्दर्शन को नमस्कार करते हुए कहते है –

"हे कुन्दकुन्दादि आचार्यो! आपके वचन स्वरूप की खोज में इस पामर को परम उपकारक हुए है, इसलिए मै आपको अतिशय भक्ति से नमस्कार करता हूँ।"

हे वीतराग जिन! आपके अनन्तानन्त उपकार है। यह गुणोका बहुमान, सत्कार, विनय किया है, उसमें परमार्थ से अपने गुणो का

छन्द २

सर्व भावथी औदासिन्य वृत्ति करी ।
मात्र देह ते संयम हेतु होय जो ।।
अन्य कारणे अन्य कशुं कल्पे नहीं ।
देहे पण किंचित् मूर्छा नव जोय जो ।।
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ।।२।।

हिन्दी पद्यानुवाद

परभावो से उदासीनता ही रहे,
मात्र देह तो हो सयम हित साधना ।
अन्य किसी कारण से अन्य न ग्राह्य हो,
हो न देह के प्रति ममत्व की भावना ।।
यह वैराग्य हृदय में जब बस जाएगा ।
अपूर्व अवसर ऐसा कब मेरे आएगा ।।२।।

छन्द २ पर प्रवचन

पहली गाथा मे अपूर्व अवसर की, बाह्याभ्यतर निर्ग्रन्थत्व की और सब सम्बन्धो के बन्धन को तोडने की भावना भायी । अब आगे बढते है ।

सर्व भाव से उदासीन वृत्ति कर – सर्व भाव का साक्षी सर्वत्र अकर्त्तापन, क्रसबद्धपर्याय का ज्ञाता, पर से उदासीन है । जगत के सब परभावो से भिन्न होकर स्वसन्मुख होने में प्रयत्नशील रहते हुए ऊँचे भाव मे आसीन होना-बैठना, यह सत्यार्थ से ससार से अनासक्त दशा है ।

अकेली उदासीनता सुख की सहेली है ।

अर्थात्

उदासीनता अध्यात्म की जननी है ।।

यह कथन अठारह वर्षीय श्रीमद् द्वारा किया गया है । उदासीनता अर्थात् मध्यस्थता, समभावदशा है । वह अध्यात्म की जननी है, क्योकि उससे शुद्ध आत्मस्वरूप प्रगट होता है । तीर्थंकर का

पुण्य, इन्द्र-चक्रवर्ती के पुण्य की ऋद्धि, स्वर्ग का सुख – ये सब सासारिक उपाधिभाव हैं । इसलिए ज्ञानी की सब परभावो से उदासीनवृत्ति हैं ।

जो कुछ पुण्य और पाप (शुभ-अशुभ) वृत्ति ज्ञान में दिखाई पडे तो वह सब मोह की विकारी अवस्था है, उन सब परभावो से ज्ञानी की उपेक्षावृत्ति हैं । वह दूसरे से राग-द्वेष, सुख-दु.ख नही मानता । अपनी निर्बलता से राग होता है, किन्तु वह उसका स्वामी नही होता । ज्ञानी के ज्ञान में ससारभाव (शुभ-अशुभभाव) का आदर नही है ।

कोई प्रश्न करे कि मुनि होने पर सब कुछ छूट जाता है क्या ? क्या ससारी भेष मे मुनिभाव नही आता ? या वस्त्र सहित मुनि नही हो सकता क्या ? क्या त्यागी होने पर ही मुनित्व प्रगट हो सकता है ? इन सब शकाओ का समाधान इसमें किया गया हैं ।

ध्रुवस्वभाव के आलम्बन के बल से अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान – इन तीन जाति के चतुकंपायो के त्याग होते ही राग के सब निमित्त सहज ही छूट जाते है, इसलिए मुनि के केवल देह रहती है । सम्यग्ज्ञान सहित नग्न दिगम्बर निर्ग्रन्थ मुनिदशा की यह भावना हैं । जितना राग छूटे, उतना राग का निमित्त भी छूट जाता है – यह नियम है, अत मुनित्व सर्वोत्कृष्ट साधक दशा हैं । जब सातवाँ और छठवाँ गुणस्थान बारम्बार बदलता रहता है, वहाँ महान पवित्र वीतराग दशा और शातमुद्रा होती है । अहो ! आत्मा मे अनन्तज्ञान, वीर्य की शक्ति है ।

आठ वर्ष के बालक के केवलज्ञान हो जावे और करोड वर्ष पूर्व की आयु रहे, तब तक शरीर नग्न रहे और महापुण्यवन्त परम औदारिक शरीर बना रह सकता है – ऐसा प्राकृतिक त्रैकालिक नियम हैं । मुनि-अवस्था में मात्र देह के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नही रहता । देह होने पर भी देह के प्रति ममत्व नही है । केवली भगवान को देह सम्बन्धी रोग, आहार-निहार, उपसर्ग, क्षुधा-तृषादि १८ दोष कभी भी नही होते ।

मात्र देह ते सयम हेतु होय जो – ज्ञानियो के सयय का हेतु, देह को देह की स्थिति पर्यन्त टिकना है, मुनि को छद्मस्थदशा मे राग

है, तब तक शरीर के निर्वाह के लिये नग्न शरीर साधक है, किन्तु फिर भी शरीर की कुशलता के लिये साधु को ममत्व नही होता। यह बात यथास्थान कही गई है, मुनित्व की भावना और मुनि का स्वरूप कैसा हो – यह जानना प्रयोजनभूत है।

देह को उपचार से सयम का उपकरण कहा है। एषणा समिति पूर्वक निर्दोष आहार की वृत्ति होती है, किन्तु वह इन्द्रिय या विषय-कषाय के पोषण के लिए नही होती, लेकिन सयम के लिए होती है। इन्द्रियदमन सयम के लिए (अतीन्द्रिय शाति मे ठहरनेवालो को) निमित्तरूप होता है। इसका मूल कारण आत्मस्वभाव की आलम्बनरूप स्थिरता है। सहज स्वाभाविक आत्मज्ञान मे ठहरना ही आत्म-स्वभाव की स्थिरता है।

अन्य कारणे अन्य कशूं कल्पे नहीं – अर्थात् अन्य किसी अपवाद से भी बाह्य वस्त्रादि निमित्त साधु अवस्था मे स्वीकार्य नही है, यह इसमें बताया है। इसलिये स्वाभाविक (प्राकृतिक) सिद्धान्त मे निश्चित हुआ कि जिसकी आत्मा स्वय सहजरूप में वर्तती है – ऐसे साधक के बहिरग निमित्तमात्र देह होती है, किन्तु मुनि के उसका आश्रय नही है।

पूजा-सत्कार के लिए या देह को सुन्दर दिखाने के लिये या अन्य किसी कारणवश भी मुनि अवस्था मे वस्त्रादि का ग्रहण नही है। जब तक पूर्ण वीतराग स्थिति न प्रगट तब तक अल्प राग होता है, इसलिए निर्दोष आहार लेने की वृत्ति होती है, किन्तु उस वृत्ति का स्वामित्व उनके नही है। जिनकल्पी या स्थविरकल्पी किसी भी जैन मुनि के वस्त्र नही होता।

देहे पण किंचित् मूर्छा नव जोय जो – ऐसी मुनि दशा मे अशमात्र भी देहमे आसक्ति या ममता नही होती। कोई कहे केवल-ज्ञान होने के बाद आहार होवे तो ? यह बात झूठी है। सातवे गुणस्थान में ध्यान – समाधि दशा है, उसमे आहार की वृत्ति नही होती तो उससे ऊँची भूमिका मे (७वे गुणस्थान से आगे के गुणस्थानो

में) आहार की वृत्ति कैसे हो ? अर्थात् नही ही होती । जिनशासन में (मोक्षमार्ग मे) मुनि की कैसी दशा हो – यह यहाँ बताया है ।

चारित्र भावना (मनोरथ) द्वारा पुरुषार्थ की प्रगटता होने से गृहस्थपना छोडकर मुनित्व ग्रहण करने के विकल्प आते है । १६ वे, १७ वे, १८ वे तीर्थंकर भगवान चक्रवर्ती पदवीधारक थे । वे भी गृहस्थदशा मे भगवती जिनदीक्षा की भावना भाते थे और उस भावना के परिणामस्वरूप ससार छोडकर, मुनित्व अगीकार कर, जगल मे नग्न दिगम्बर होकर चल पडे । जिनकी १६ हजार देव सेवा करते थे और जिनके बत्तीस हजार मुकुटधारी राजा चँवर करते थे – ऐसे छह खण्ड के अधिपति भी मुनि होकर जगल मे चले गये । उनके देह की ममता तो पहले से ही नही थी, किन्तु कमजोरी से जितना चारित्र-मोह का राग रहता है, वे उसके विकल्प को भी तोडकर दिगम्बर अवस्था मे ७ वे गुणस्थान (साधक-भूमिका) में प्रवेश करते है और उससमय उनके चतुर्थ मन पर्ययज्ञान प्रगट होता है । वे स्वरूप के साधन से अपने ही अपरिमित आनन्दस्वभाव को देखते है, इसलिए धर्मात्मा की देह पर दृष्टि (ममत्वभाव) सहज ही दूर हो जाती है । वे देह में प्रतिकूलता होने पर भी दु ख का अनुभव ही नही करते ।

'यथाजात' अर्थात् जन्म समय जैसा शरीर होता है, वैसे ही शरीर की स्थिति मुनि की साधकदशा में होती है । उस साधकदशा में २८ मूलगुण अवश्यमेव निमित्त होते है । वह मुनित्व (निर्ग्रन्थ साधक दशा) हो, तब उनकी मुद्रा गम्भीर, निर्विकारी, वीतराग, शात, वैराग्यवन्त और निर्दोष होती है । ऐसे गुणो के भण्डार मुनि का शरीर निर्विकारी नग्न बालक की तरह होता है । मुनि आत्मसमाधिस्थ परम पवित्र ज्ञान मे रमण करते है ।

मुनिराज को छठवे गुणस्थान मे आहार लेने का विकल्प होता है, वहाँ आहार लेने की वृत्ति अवश्य है, किन्तु मूर्च्छा (मोह) या लोलुपता नही है । मुनि शरीर के राग के लिये नही, किन्तु सयम के निर्वाह के लिये एक ही समय आहार-जल हाथ मे लेते है । आहार

करते समय मुनि को आहार का लक्ष्य नहीं, किन्तु पूर्ण कैसे होऊँ? - यही लक्ष्य है; उनकी निरन्तर जाग्रत दशा है। पूर्णता की स्थिति कब आवेगी? - इस भावना में ही शुद्धता का अंश निहित है। जिन-आज्ञा और वीतराग दशा का यथार्थ विचार ही यह भावना है, वह शुद्ध भावना का कारण है। यदि कारण में कार्य का अंश न हो तो उसे वीतरागदशा का 'साधक कारण' संज्ञा नहीं मिले। ऐसी उत्कृष्ट साधक दशा कब हो, ऐसा अपूर्व अवसर कब आवेगा? यही उच्च भावना यहाँ की गई है। स्वकाल का अर्थ 'स्वसमय' है। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार ग्रन्थ के पहले कलश में 'समय' का अर्थ 'आत्मा' बताया है और उसमें 'सार' जो द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्मरहित शुद्धात्मा है, उसे नमस्कार किया है। यहाँ यह भावना की गई है कि पूर्ण शुद्ध अवस्था जल्दी प्रगटे।

श्रीमद् राजचन्द्र सम्यग्दृष्टि और आत्मानुभव करनेवाले थे, इसलिए मुनित्व की भावना भाते हैं। जैसे पूर्ण असंग निरावरण आत्मस्वरूप का लक्ष्य किया है, वैसे ही पूर्णता का लक्ष्य 'परमपद प्राप्ति' का उपाय क्या? - यह वे विचार करते हैं। पूर्ण 'समयसार' साधने की भावना व्यक्त की है ॥२॥

● ● ●

अमुल्य विचार

मैं कौन हूँ, आया कहाँसे, और मेरा रूप क्या?
संबंध दुखमय कौन है? स्वीकृत करूँ परिहार क्या?
इसका विचार विवेकपूर्वक शान्त होकर कीजिये,
तो सर्व आत्मिक-ज्ञान के सिद्धान्त का रस पीजिये ॥

* * * *

किसका वचन उस तत्त्व की उपलब्धि में शिवभूत है?
निर्दोष नरका वचन रे! वह स्वानुभूति प्रसूत है।
तारो अरे तारो निजात्मा, शीघ्र अनुभव कीजिये,
'सर्वात्म में समदृष्टि दो' यह वच हृदय लख लीजिये ॥

— श्रीमद् राजचन्द्र

छन्द ३

दर्शनमोह व्यतीत थई उपज्यो बोध जे,
देह भिन्न केवल चैतन्यनुं ज्ञान जो;
तेथी प्रक्षीण चारित्रमोह विलोकिए,
वर्ते एवुं शुद्ध स्वरूपनुं ध्यान जो।
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ॥३॥

हिन्दी पद्यानुवाद

दर्शनमोह व्यतीत हो गया ज्ञान में,
देह भिन्न है मै तो चेतन शुद्ध हूँ;
चारित्रमोह विशेष क्षीण अनुभव करूँ,
मै तो शुद्ध स्वरूप ज्ञानघन बुद्ध हूँ।
अपूर्व अवसर ऐसा कब मेरे आएगा ॥३॥

छन्द ३ पर प्रवचन

आत्मा के अभिप्राय मे भ्रान्ति अर्थात् पुण्य-पाप-रागादि शुभाशुभ परिणाम को अपना मानना, उसको आदरणीय मानना दर्शनमोह है। आत्मा अपने को भूलरूप मानता है, इसलिए पर का कर्त्ता-भोक्ता-स्वामी हूँ – यह कल्पना करता है। निश्चय से आत्मतत्त्व सदा अतीन्द्रिय ज्ञानमय पूर्ण असग है, उसका अबन्ध स्वभाव है, वह पर के बन्धनरहित है। वस्तुस्वभाव ऐसा होते हुये भी ऐसा न मानते हुये मेरे मे जडकर्म के निमित्त का बन्धन है, मै पुण्यादि युक्त हूँ, राग हितकर है, शुभ परिणाम मेरा कर्त्तव्य है, इसप्रकार परभाव में एकत्वबुद्धि होना दर्शनमोह है। एक आत्मतत्त्व को अन्य तत्त्व के साथ एकरूपवाला, उपाधिवाला, बन्धनवाला मानना दर्शनमोह है।

आत्मा स्वाधीन ज्ञायक वस्तु है, वह कभी स्वभाव से भूलरूप नही होता। मोहकर्म की एक जड प्रकृति का नाम दर्शनमोह है, वह

तो निमित्तमात्र है। जीव अज्ञान अवस्था में रहे, तब तक अपने को अन्यथा मानता है, पर से भला मानता है, किन्तु वह कभी किसी प्रकार से पर का कर्त्ता-भोक्ता नही हो सकता।

भूल दूर हो सकती है, क्योंकि भूल उसका मूल स्वभाव नही है, किन्तु पर्याय है। भूल होने मे उपाधिरूप निमित्तकारण अन्य होना चाहिये, इसलिये विकारी अवस्था में पर निमित्त होता है। निमित्त तो परवस्तु है – ऐसी यथार्थता से परवस्तु की अवस्था का भेदज्ञान नही होने के कारण वह पर से अपने को अच्छा-बुरा मानता है, अपने को पररूप और पर को अपने रूप मे मानता है। स्वय रागी, द्वेषी, मोही बनता है, उनका निमित्त पाकर नये रजकण बँधते है, किन्तु जिससमय जीव ज्ञानभाव द्वारा अज्ञान अवस्था का अभाव करता है, उससमय दर्शनमोह नष्ट हुआ और ज्ञान प्राप्त हुआ – ऐसा कहा जाता है। पर को स्वरूप मानने मे यह दर्शनमोह कर्म निमित्तरूप है, उसका नाश किया है – ऐसा यहाँ कहा है।

शक्तिरूप में जीव का स्वभाव शुद्ध है, पर्याय मे अभी तो शुद्धता का अश ही प्रगट हुआ है, उसको पूर्ण करने की भावना है। जैसा सर्वज्ञ भगवान ने जाना है, वैसा ही आत्मा है – ऐसा यथार्थज्ञान उत्पन्न हुआ है। ज्ञान उत्पन्न होगा, ऐसी दीर्घकालीन आशा नही है। आत्मज्ञान प्रगट हुआ है, वह क्या है – यह बतलाते हैं।

देह भिन्न केवल चैतन्यनु ज्ञान जो – आठ कर्मों के रजकण, द्रव्यकर्म, नोकर्म और भावकर्म मे भिन्न, केवल आत्मा शुद्ध है। जैसे नारियल मे गिरी का गोला भिन्न जाना जाता है, वैसे ही स्पष्ट, प्रत्यक्ष ज्ञान मे चिद्घन आत्मा नि सदेह रूप से भिन्न जाना जाता है। आत्मा पर से सर्वथा भिन्न निराला है – ऐसा केवल शुद्ध आत्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान साधक अवस्था म वर्तता है। ऐसा भान है, वह सम्यग्दर्शन है, वह चौथी भूमिका (चौथा गुणस्थान) है। जितने अश मे वीतरागता है, वह चारित्र है। साथ मे उसे जैनदर्शन की इकाई कहा है।

जैसे सम्यक् अभिप्राय का भान हुआ, उसके साथ असगता का पुरुषार्थ भी होगा ही । कभी हीनाधिक रूप से हो, किन्तु उसकी अत्र स्वसन्मुख ही परिणति होती है । केवल चैतन्य का भान है, उसमें परमाणुमात्र का भी सम्बन्ध नहीं है, परनिमित्त की तरफ की रुचि से होनेवाला विकार नहीं है । उसके अभिप्राय में ऐसी नि शक श्रद्धा है कि पूर्ण मुक्त परमात्मा समान अकेला आत्मा भिन्न है, वन्ध या उपाधि आत्मा का स्वभाव नहीं है - ऐसा होते हुए भी आत्मा को दयावान, पुण्यवान, पर का कर्त्ता, भोक्ता तथा शुभाशुभ वन्धयुक्त मानना मिथ्यादर्शन नामक शल्य है । कोई परमार्थ तत्त्व से रहित होकर स्वच्छन्द आचरण करे, उसकी यहाँ चर्चा नहीं है । ज्ञानी को प्रत्यक्ष अनुभवरूप सम्यग्ज्ञान प्रमाण है, इसलिए सहज एकरूप अवस्था (पर से भिन्न) आत्मस्वरूप में अभेद है — ऐसा लक्ष्य उसे निरन्तर रहता है ।

'आत्मा का एक भी गुण परमाणु में नहीं मिलता, उसीप्रकार चेतनगुण में निमित्त का प्रवेश नहीं है ।' अनुभवदशा के ज्ञान द्वारा पुरुषार्थ की जागृतियुक्त ज्ञानी ऐसा कहते हैं । स्वरूप की पूर्ण स्थिरता हो जाय तो ऐसी उत्कृष्ट साधक स्वभाव की भावना भाने की आवश्यकता नहीं रहे, किन्तु चारित्र गुण अपूर्ण है, इसलिए चारित्रमोह कर्म के उदय में थोडा जुडना होता है, लेकिन वह विघ्न है — ऐसा जानता है । जितने अशो में कर्म की तरफ अपने को प्रवृत्त करे, उतने अशो में विघ्नरूप वाधक भाव है ।

तेथी प्रक्षीण चारित्रमोह विलोकिए — इस पक्ति में श्रीमद् ने कहा है कि चारित्रमोह विशेषरूप से क्षीण होता जाता है, उसे देखिये । सम्यक् वोध द्वारा शुद्ध स्वरूप का ज्ञान होने से साधक स्वभाव प्रगटता है, किन्तु उसमें अस्थिरता कितनी दूर हुई और कितनी है — यह निश्चित कर स्थिरता द्वारा चारित्रमोह को क्षय करने के लिए पुरुषार्थ बढाता है और ज्ञान की स्थिरता वढने से चारित्रमोह विशेषरूपसे क्षीण होता जाता है — ऐसी दृढता स्वानुभव में होती है, इसी का नाम 'विलोकना' है ।

आत्मा का भान होने के पश्चात् चारित्रमोह 'प्रक्षीण' अर्थात् विशेष रीति से क्षय होता है। यहाँ उपशम का प्रकरण नही है। जो अप्रतिहत, धाराप्रवाही ज्ञानबल की जागृति से आगे बढे, उसके उपशम नही, किन्तु क्षय करने का बल रहता है। अग्नि को राख से ढके, उसप्रकार के उपशम की यहाँ चर्चा नही है, किन्तु पानी से उसे बुझा दे – ऐसे चारित्रमोह के क्षय की भावना यहाँ की गई है।

आत्मा ज्ञानमूर्ति पवित्र शुद्ध है, उसके भान मे रहकर सम्यग्दर्शन -ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग की प्रगट अवस्था मे स्थिरता बढाऊँ, राग-द्वेष का नाश होता हुआ देखूँ, ऐसा और मेरे स्वरूप का विकास होने से विशेष निर्मल अवस्था देखूँ --ऐसा इस पक्ति मे कहा है। राग, द्वेष, हर्ष, शोक, रति, अरति इत्यादि चारित्रमोह की अवस्था घटती जाती है।

वर्ते एवुं शुद्ध स्वरूपनु ध्यान जो – इसका अर्थ यह है कि परमाणु मात्र से मेरा सम्बन्ध नही है, इसलिए राग, द्वेष, पुण्यादि अस्थिरता का भी सम्बन्ध ज्ञान मे नही है – ऐसा मैं शुद्ध ज्ञानघन हूँ। निर्धूम अग्नि का अगारा केवल अग्निमय ही प्रज्वलित रहता है – ऐसी चैतन्यज्योति को पहिचानकर, देखकर ज्ञानदशा मे स्थिर एकाग्ररूप से (ज्ञान मे ही) ज्ञाता बना रहे तो क्रमश सब कर्म क्षय हो जाये और द्रव्यस्वभाव मे पूर्ण, शुद्ध, पवित्र, निर्मलरूप जैसा आत्मा है, वैसा ही अवस्था (पर्याय) मे निर्मल शुद्ध हो जाये। केवलज्ञान मे पर्याय उत्कृष्ट शुद्धतारूप परिणमती है – ऐसा परमात्मस्वभाव प्रगट हो जाय – ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा ? अर्थात् स्वसमय स्थिति कब आवे – यही भावना यहाँ की गई है। ● ● ●

> **निर्दोष सुख निर्दोष आनन्द लो जहाँ भी प्राप्त हो।**
> **यह दिव्य अंतस्तत्त्व जिससे बंधनो से मुक्त हो॥**
>
> —श्रीमद् राजचन्द्र

छन्द ४

आत्म स्थिरता त्रण संक्षिप्त योगनी,
मुख्यपणे तो वर्ते देह पर्यन्त जो;
घोर परिषह के उपसर्ग भये करी,
आवी शके नही ते स्थिरतानो अन्त जो ।
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ।।४।।

हिन्दी पद्यानुवाद

आत्मस्थिरता मन-वच-काया योग की,
मुख्यरूप से रहे देह पर्यन्त जो;
कितने भी उपसर्ग घोर परिषह बने,
तो भी मेरी स्थिरता का ना अन्त हो ।
अपूर्व अवसर ऐसा कब मेरे आएगा ।।४।।

छन्द ४ पर प्रवचन

इस पद मे श्रीमद् ने ज्ञान सहित पुरुषार्थ की धारा व्यक्त की है और ये २१ पद अविराम एकसाथ लिखे गए है । इस ज्ञानस्वरूप की एकाग्रता और उससमय की विरल दशा कैसी होगी ? अपूर्व साधना का सस्कार कैसा होगा ? इसप्रकार की परम आश्चर्यकारी सद्‌विचार श्रेणी होवे, तब कैसे परमार्थरूप काम हो सकता है, ऐसे गभीर ज्ञान का विचार करो । क्या ऐसी अपूर्व बात किसी अन्य के पास से आ सकती है ? अरे ! जिनकी बुद्धि मताग्रह से मोहित है, उनको सत्य की प्राप्ति नही होती ।

लोग मध्यस्थभाव से तो विचार नही करते और केवल निंदा करते है कि श्रीमद् ने अपने आपको पुजाने के लिए इस काव्य को लिखा है, किन्तु ऐसा कहनेवाले अपनी आत्मा में भयकर अशातना करते है । भाई ! उनका गृहस्थ वेष देखकर विकल्प मे नही पडना चाहिये ।

ऐसी अपूर्व भावना की वाणी का अपूर्व योग कोई लावे तो ? तोता रटत से यह सम्भव नही है। जिनके सहज पुरुषार्थ की धारा प्रगट हो, उसको कोई नही कहता कि तुम इस समय अपूर्व अवसर की अन्तर्गत भावना का काव्य लिखो, किन्तु जिसके जिनदीक्षा (भगवती दीक्षा) का बहुमान हो, उसकी आत्मा अन्तरग से ध्वनि करती हुई स्थिरतारूप पुरुषार्थ की माग करती है। वह निवृत्ति, वैराग्य प्रवृत्ति धारण करने का पुरुपार्थ होता है कि सर्वसगविमुक्त जैसा बनूं। श्रीमद् ने इसप्रकार मुनित्व की भावना की है।

वे घर में है या वन में ? यह प्रश्न ही नही है, पूर्ण स्थिरता की दृष्टि पुकारती है कि अब मै कैसे पूर्ण होऊँ ? वर्तमान काल में केवली भगवान का इस क्षेत्र में अभाव है, यह विरह दूर होकर पूर्ण स्वरूप की प्राप्ति का अपूर्व अवसर कैसे आवे – यह भावना की है।

कोई कहे कि श्रीमद् व्यापार करते थे, धनसग्रह करते थे, किन्तु हे भाई ! बाह्यदृष्टि द्वारा इन पवित्र धर्मात्मा के हृदय को परखना कठिन है, क्योकि वे गृहस्थ वेष में थे। साधारण जीवो को अन्तर की उज्ज्वलता देखना बहुत कठिन पडता है। समाज में स्वच्छन्दता आदि का जोर था, उनको सत्य बात कौन कहे ? उनके अन्तर में सर्वज्ञ ज्ञानी का मोक्षमार्ग था, किन्तु वे तत्कालीन समाज को देखकर अधिक प्रगट मे नही आए, लोगो का पुण्य ही ऐसा नही था ? काल की बलिहारी है। उससमय लोग इसप्रकार की बात सुनने को तैयार नही थे। उस काल की अपेक्षा यह काल अच्छा है, क्योकि हजारो भाई और बहने प्रेम से इस वार्ता को सुनते है। परीक्षा पूर्वक अपनी पात्रता से सत्य समझते है – ऐसे बहुत से व्यक्ति तैयार हुए है।

वर्तमान मे महाविदेह क्षेत्र मे साक्षात् सर्वज्ञ प्रभु तीर्थंकर भगवान विराजमान है, वहाँ सनातन दिगम्बर वीतराग शासन विद्यमान है। हजारो लाखो सन्त मुनियो के सघ है। वह क्षेत्र, काल और वहाँ उत्पन्न होनेवाले धन्य है, यह विरह किसको कहे। श्रीमद् ने ऐसे महत्पुरुष सर्वज्ञ भगवान के विरह को जानकर ऐसी भावना की थी। किसी ने कहा भी है –

"भरतक्षेत्र मानवपणो रे लाध्यो दुषमकाल,
जिन पूर्वधर विरहथी रे दुल्लहो साधन चालो रे।
चन्द्रानन जिन साभालोने अरदास ॥"

हे नाथ! हे भगवान! इस भरतक्षेत्र और इस पञ्चमकाल में आपका विरह हुआ, पूर्वधारी और श्रुतकेवलियो का भी इस काल मे विरह है। इस विरह मे भी कर्मसम्बन्ध को दूर करने के लिये ही भावना की गई है। यहाँ साधक निश्चय से अपने चन्द्रानन भगवान को याद करके विनती द्वारा अपने भाव को प्रमुदित करता है। उस समय मन-सम्बन्धी राग का जो अश है, उसमें मद कषाय की भी रुचि नहीं होने से लोकोत्तर पुण्य सहज ही बँध जाता है, किन्तु उसकी प्रारम्भ मे ही अस्वीकारता है। उस पुण्य के फल में इन्द्रपद, चक्रवर्तीपद भी सहज ही मिल जाते है।

भविष्य मे तीर्थंकर भगवान के चरण-कमलो में जाकर निर्ग्रन्थ मार्ग का आराधन करने के लिए मुनित्व अगीकार कर मोक्षदशा प्रगट करने की यह भावना है। इस काल मे वीतराग-सर्वज्ञ का योग नही है, किन्तु सर्वज्ञ-शासन (वीतरागी धर्म – आत्मधर्म) का यह निर्ग्रन्थ मार्ग अनादि सत्पथ है, सनातन है और सदा रहेगा – ऐसी भावना पूर्ण शुद्धात्मा की प्रतीति, लक्ष्य और स्वानुभव सहित है। पूर्ण साध्य की प्राप्ति के लिए नग्न मुनिदशा-सहित निश्चयचारित्र अगीकार करना चाहिए।

प्रश्न – गृहस्थ वेष में केवलज्ञान और मुनित्व प्रगट होने में क्या वाधा है?

उत्तर – यह वात असत्य है, क्योकि वाह्याभ्यतर निर्ग्रन्थ दशा प्रगट होने पर अभ्यन्तर पुरुषार्थ से तीनो कषायो का नाश होने से वाह्य निमित्त (परिग्रह) का त्याग सहज ही होता है। गृहस्थावास में कषाय का सर्वथा त्याग नही हो सकता, इसलिए सच्चा मुनित्व होने के लिए नग्नत्व-वस्त्ररहितपना होना ही चाहिये।

समयसार की अमृतचन्द्राचार्यकृत आत्मख्याति टीका के तीसरे कलश में दर्शनमोह दूर होने पर देहादि से भिन्न केवल चैतन्य का

ज्ञान होता है – ऐसा कहा है और ज्ञानी के शुद्धात्मबोध सहित ज्ञान की एकाग्रता द्वारा हास्य, शोक, रागादि, अस्थिरता और चारित्रमोह कर्म के उदय का अभाव होता है। ऐसा होने पर सातवाँ गुणस्थान होता है। ध्याता, ध्यान, ध्येय का विकल्प छूटकर ज्ञान की समाधिस्थ-दशा, ध्यान की स्थिरतारूप सातवी भूमिका (मुनित्व) कैसे प्रगटे, इसकी यहाँ भावना की गई है।

आत्मस्थिरता अर्थात् तन, मन, वचन के आलम्बनरहित स्वरूप की मुख्यता जिसमें हो – ऐसी स्थिरता, देह का अन्त हो तब तक रहे – यह भावना की गई है। जहाँ सातवाँ गुणस्थान है, वहाँ बुद्धिपूर्वक विकल्प न होने से निर्विकल्प दशा है। मुनि अवस्था में छठवे गुणस्थान में बुद्धिपूर्वक तन, मन और वचन का शुभयोग, पचमहाव्रत के शुभ विकल्पादि रहते है, फिर भी मुख्यरूप से अन्तर-रमणता रहे, आत्मबल के द्वारा स्वरूप में लक्ष्य रहे – ऐसी भावना बार-बार होती है।

घोर परिषह या उपसर्ग भये करी – आत्मस्थिरता शुभाशुभ के विकल्परहित होती है। शुद्ध स्वभाव में एकाग्रता इसप्रकार की हो कि घोर परिषह आवे तो भी उनके प्रति अरति या खेद न हो, घोर परिषह आवे, फिर भी वे मेरी स्थिरता को नही डिगा सकते – ऐसी भावना है। छह-छह महीने तक आहार-पानी न भी मिले, सख्त सर्दी हो तो भी उसका विकल्प नही आवे, आज बरफ गिरा, इसलिए विहार न करूँ – ऐसा विकल्प नही आवे, भयकर ताप होते हुए भी यह भय न हो कि मुझे इससे दुःख होगा। यदि बाहर से सूर्य प्रखर हो और ताप (गर्मी) भीषण हो तो मुनि को उग्र पुरुषार्थ प्रगट कर स्थिरता लानी चाहिए। उग्र साता-असाता के निमित्त भले ही आवे, किन्तु मेरी अस्थिरता का अन्त न आवे, इसप्रकार मेरी निश्चलस्वरूप समाधि की साधक दशा जयवन्त-जयशील वर्तती रहे। जिन पुरुषो ने विरुद्ध प्रसगो मे भी निश्चलदशा द्वारा परम आश्चर्यकारी सयम-समाधि धारण की है, वे धन्य है। चाहे जितने प्रतिकूल सयोग हो, किन्तु ज्ञानी उनको साधक नही मानता।

उपसर्ग चार प्रकार के होते हैं – देवकृत अथवा व्यंतरकृत, तिर्यञ्चकृत, मनुष्यकृत और अचेतनकृत। कमठ ने पार्श्वनाथ भगवान को मुनिदशा मे उपसर्ग किया और महावीर भगवान को भी मुनिदशा मे उपसर्ग हुये थे, किन्तु उन दोनो को क्षोभ नही हुआ था। ऐसे ही प्रत्येक धर्मात्मा मुनि आत्म-स्थिरता मे अडोल रहता है। घाणी मे पेले जाने पर भी उसे स्वरूप की स्थिरता को छोडने का विकल्प नही आता। 'मैने बहुत सहन किया' – ऐसा विकल्प भी नही आता और जो कदाचित् ऐसा समझे कि 'मैने बहुत सहन किया' तो उसको सम्यग्ज्ञान ही नही है।

सामान्य लोग अध्ययन, श्रवण, मनन नही करते। श्रीमद् यहाँ स्वरूप की स्थिरता का चिंतन करते है, इस रूप में वे अपने भाव व्यक्त करते है। उनके एक-एक शब्द में अपूर्वता है, वे अपूर्व साधकदशा (मुनि-पर्याय) प्रगट होने की भावना भाते है। ● ●

श्रीमद् राजचन्द्र की देशना

आत्मस्वभाव की निर्मलता करने के लिये मुमुक्षु जीव को दो साधन अवश्य करके सेवन करने योग्य हैं, सत्श्रुत और सत्समागम।

प्रत्यक्ष सत्पुरुषों का समागम क्वचित् जीव को प्राप्त होता है, किन्तु यदि जीव सद्दृष्टिवान हो तो सत्श्रुत के बहुत समय के सेवन से होनेवाला लाभ प्रत्यक्ष सत्पुरुष की सगति करने से बहुत अल्पकाल मे प्राप्त कर सकता है, कारण कि प्रत्यक्ष गुणातिशयवान् निर्मल चेतना प्रभाववाले प्रवचन और जागृतिरूप क्रियाचेष्टितपना है जिसको – ऐसा समागम योग (सगति) प्राप्त हो ऐसा विशेष प्रयत्न करना योग्य है।

और ऐसे योग के अभाव मे सत्श्रुत (सच्चे शास्त्र) का परिचय अवश्य करने योग्य है। शान्तरस की जिसमें मुख्यता है, शान्तरस के हेतु से जिसका सभी उपदेश है – ऐसे शास्त्र का परिचय वह सत्शास्त्रों का परिचय है।

छन्द ५

संयमना हेतुथी योगप्रवर्त्तना,
स्वरूपलक्षे जिन-आज्ञा आधीन जो;
ते पण क्षण-क्षण घटती जाती स्थितिमां,
अंते थाए निजस्वरूपमां लीन जो ।
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ।।५।।

हिन्दी पद्यानुवाद

संयम के हित होवे योग प्रवर्त्तना,
जिन-आज्ञानुसार स्वरूप पर लक्ष्य हो ।
क्षण क्षण घटते रहें विकल्प निमित्त के,
करूँ अन्त में निजस्वरूप चरितार्थ मैं ।
अपूर्व अवसर ऐसा कब मेरे आएगा ।।५।।

छन्द ५ पर प्रवचन

उक्त पद मे की गई भावना का अर्थ यह है कि शुभाशुभभाव को टालने के लिये मुनि-अवस्था मे स्वरूप का स्थिरतारूप उपयोग होता है, किन्तु जो उस स्वरूप में निर्विकल्प रूप से स्थिर नही रह सके, वह शुभोपयोग (छठे गुणस्थान) मे उतर आता है। जब शास्त्रश्रवण, शिष्य को उपदेश, देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति-आहार-विहारादि के शुभभाव होते है तो वे भी सयम के हेतुरूप मे ही प्रवर्तित होते है। शरीर आदि परद्रव्यो की जो क्रिया होती है, उसमे वे मुनि अपना कर्त्तृत्व नही मानते और शुभभाव को हेय मानते हैं। 'मै ज्ञाता-दृष्टा, अडिग हूँ' – ऐसी दृष्टि को बनाये रखने का पुरुषार्थ उससमय भी बना रहता है, इसलिए वह शुभोपयोगरूप प्रवृत्ति वीतराग भावना की आज्ञानुसार है।

संयमना हेतुथी योग प्रवर्त्तना – चूकि मै पूर्ण अवस्था मे नही पहुँचा, इसलिए जिन भगवान की आज्ञा का आराधन करने में मेरी

प्रवृत्ति होती है। वीतराग चारित्रदशा मे निर्दोषतया प्रवर्तन करने का मेरा भाव है और यह भगवती पूज्य दिव्य जिनदीक्षा का बहुमान है। **'णमो लोए सव्वसाहूणम्'** अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप आत्मा मे एकत्वरूप से रमण करनेवाले साधु वदनीय है। अनन्त ज्ञानी भगवन्तो द्वारा प्ररूपित लोकोत्तर मार्ग (मोक्षमार्ग) मे प्रवृत्ति करनेवाले का बहुमान करने का भाव साधक को आये बिना नही रहता।

साधक सातवी भूमिका (गुणस्थान) मे आराध्य-आराधक तथा 'मै मुनि हूँ' आदि के भाव तथा व्रतादि के शुभ परिणामो रूप विकल्प छोडकर स्वसवेदन मे स्थिर हो जाता है, वहाँ वद्य-वदक भाव नही होता। सर्वज्ञ भगवान कहते है कि छठे गुणस्थान में मुनित्व के आचार-नियम तथा षट् आवश्यक आदि क्रिया का शुभ विकल्प अकषायत्व के लक्ष्य से रहता है।

भावना करते हुये वीतराग परमात्मा के प्रति बहुत भक्ति रहती है और साधक कहता है कि हे नाथ! मै जिनेन्द्र भगवान के धर्म की श्रद्धा करता हूँ, उसकी रुचि करता हूँ, उसे अन्तर में जानता हूँ, अनुभवता हूँ और उसकी आराधना करता हूँ। यहाँ जिनाज्ञा के विचारो द्वारा मेरा साधक स्वभाव कैसे बढे – यह भावना है। पूर्ण यथाख्यातचारित्र ही एक उपादेय है। शुभाशुभ योग की प्रवृत्ति मेरा स्वभाव नही है, शुभाशुभभाव से हित नही होता – ऐसा भान होते हुए भी शुभभाव हुये बिना नही रहता। नीचे की भूमिका (गुणस्थान) मे पुरुषार्थ करते हुए शुभभाव भी निमित्तरूप से साथ रहता है।

स्वरूप लक्षे जिन आज्ञा आधीन जो – यह गुण प्रगट करने की बात है। जितने अशो में जिनाज्ञा, विचार आदि का मानसिक आलम्बन छूटे, उतने अशो मे स्वरूप की स्थिरता सहज ही बढती जाती है और तदनुरूप आज्ञा आदि के आलम्बन का विकल्प भी छूटता जाता है।

ते पण क्षण-क्षण घटती जाती स्थितिमां – जैसे ज्ञान में अतरग स्थिरता बढती जावे, वैसे निमित्त के विकल्प छूटते जाते है। भगवान क्या कहते है, इत्यादि आज्ञा का आलम्बन सातवे गुणस्थान मे सहज

ही छूट जाता है। क्षण-क्षण में मन के विकल्पात्मक परिणामो का घटना और अतरग में स्थिरता, स्वरूप-रमणता का बढना होता है। अहो! श्रीमद् ने गृहस्थाश्रम में शैया पर बैठकर कैसी उत्तम भावनाभायी है।

अन्ते थाए निजस्वरूपमां लीन जो – 'प्रभु क्या कहते हैं', ऐसे विकल्प का आलम्बन भी छूट जाय और मात्र ज्ञानस्वरूप समाधि मे स्थिरता रहे – ऐसा अपूर्व अवसर कब आवेगा, यह भावना यहाँ भाई गई है। ऐसे आत्मस्वरूप की स्वकालदशा, निर्ग्रन्थ वीतरागता-धारक मुनिपद इस देह मे प्राप्त हो – ऐसा अपूर्व अवसर (शुद्धपर्याय की निर्मलता, स्थिरता)कब आयेगा ? चैतन्य की शक्ति मे से ही यह भावना भानी चाहिये। अपने शुद्धस्वरूप की भावना करनेवाले काल-क्षेत्र की प्रतीक्षा नही करते, वे अपने शुद्धस्वरूप को देखते है।

जहाँ '**पूर्णता के लक्ष्य से प्रारम्भ**' – ऐसा कहा गया है, वहाँ पूर्ण पर दृष्टि है। जिसको जिसका मतलब होता है, वह उसका वायदा नही करता। जिसमे उत्कृष्ट रुचि हो, उसमे क्षणमात्र का विलम्ब नही सहा जाता। आत्मा का स्वभाव आनन्दस्वरूप है, इसलिये उसकी भावना में आनन्द की लहर-हिलोर आना चाहिये, उस आनन्द में अकेला आत्मा ही चिन्तन मे आता हैं।

आत्मस्थिरता और उसका पुरुषार्थ अपने स्वय के अधीन है, किन्तु मन, वचन और काय का योग स्थिर रहे या चलायमान हो, यह उदयाधीन है। उन योगो के प्रवर्तन के सर्वथा घटने रूप अयोगीपणा तो चौदहवे गुणस्थान मे होता है। सातवे गुणस्थान मे अप्रमत्त दशा मे 'मै द्रष्टा हूँ' आदि सब विकल्प छूटकर आत्मस्वरूप मे स्थिरता रहती है, उसमें बुद्धिपूर्वक किसी प्रकार के विकल्प का प्रवेश नही है। उसमे होनेवाले अतिसूक्ष्म विकल्प केवलज्ञानगम्य है, साधक को तो उन विकल्पो का लक्ष्य नही है।

'अपूर्व अवसर' काव्य मे १२ वे छन्द तक सातवे गुणस्थान पर्यन्त की भावना समझनी चाहिये। 'अवसर' का अर्थ है – उन-उन भावो की स्थिरता की अवस्था, एकाग्रता। यहाँ मुख्यरूप से मुनित्व की निर्ग्रन्थदशा की आत्मस्थिरता को बताया है। ● ● ●

छन्द ६

पंच विषयमां राग-द्वेष विरहितता,
पंच प्रमादे न मळे मननो क्षोभ जो;
द्रव्य क्षेत्र ने काल भाव प्रतिबंधवण,
विचरवुं उदयाधीन पण वीतलोभ जो।
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ।।६।।

हिन्दी पद्यानुवाद

पच विषय में राग-द्वेष कुछ हो नहीं,
पच प्रमाद न करूँ, मन न मलीन में।
द्रव्य क्षेत्र अरु काल भाव प्रतिबन्ध बिन,
वीतलोभ बन विचरूँ उदयाधीन में।
अपूर्व अवसर ऐसा कब मेरे आएगा ।।६।।

छन्द ६ पर प्रवचन

यह भावना धन्य है! इस अपूर्व साधकस्वभाव की निर्ग्रन्थ दशा का होना धन्य है! एक दिन यह भावना पढी जा रही थी, तब एक मताग्रही बोला –

"श्रीमद् ऐसी भावना भाते हुए भी साधु क्यो नही बने ?"

अरे! कैसी अधम मनोदशा है। पचमकाल की बलिहारी है। निंदा करनेवाले को इतना भी ज्ञान नही है कि यह तो भावना है। सम्यग्दर्शन होने के साथ मुनित्व आवे – यह नियम नही है। मुनित्व किसी हठ से नही होता। यह तो लोकोत्तर परमार्थ मार्ग है, अपूर्व साधकदशा की भावना है। जितना पुरुषार्थ हो, उतना ही कार्य सहज हो जाता है। कोई मानते है कि 'बाह्य त्याग किया, इसलिये हम साधु है,' किन्तु यह कोई नाटक या अभिनय करना नही है। यह तो अपूर्व वीतरागचारित्र की बात है। राग-द्वेप व कषाय की तीन चौकडियों

के अभाव होने से मुनित्व प्रगट होता है और तब सहज ही बाह्यनिमित्त वस्त्रादि छूट जाते है – यह नियम है । हठ से कुछ भी नही होता ।

भावना करे और तुरन्त ही फल दिखाई पड़े – ऐसा कोई नियम नही है, किन्तु भावना करनेवाले को पूर्ण विश्वास है कि अब ससार मे मेरे ज्यादा भव नही है ।

ऐसे पवित्र धर्मात्मा द्वारा की गई भावना का विरोध करनेवाले जीव भी उससमय थे । 'उसकी प्रशसा करनी हो तो हमारे स्थानक मे मत आओ' – ऐसा कहनेवाले भी थे । उससमय की अपेक्षा वर्तमान काल अच्छा है कि जिससे कई स्थानो पर उनकी (श्रीमद् की) महिमा के गीत गाए जाते है । अरे ! ज्ञान और ज्ञानी की विराधना करनेवाले जीवो को सच्चे हित की बात अच्छी नही लगती ।

जैसे सन्निपात के रोगी को मीठा दूध हानि करता है, वैसे ही ससार में विपरीत मान्यतावाले परम हित का उपदेश सुनते हुए भी सत् का अनादर करते है । वे अपने को महान समझते है और दूसरो को तुच्छ । विषय-कषाय क्या है, उन्हे कैसे टाले – यह सब-कुछ वे समझते नही । उन्हे जिनाज्ञा का ज्ञान नही है और घर छोड़कर वेषधारी होकर त्यागी बनने का अभिमान करते है । वीतरागी की आज्ञा के नाम पर अनन्तज्ञानी को और अपनी भी अवज्ञा करते है । अवज्ञा कैसे होती है – यह उनके ज्ञान में नही है, उन्हे कौन समझावे ? – ऐसे व्यवहारमूढ जीव बहुत देखे है ।

श्रीमद् ने आत्मसिद्धि में कहा है .–

जाना स्वरूप न वृत्ति का, किया व्रत अभिमान ।
ग्रहे नहि परमार्थ को, कारण लौकिक मान ।। २८।।

सम्यग्दर्शन क्या है ? इसका उन जीवो को ज्ञान नही है और मात्र शुभभाव (मद कषाय) को धर्म मानते है, सवर मानते है, निर्जरा मानते है । दया, दान के शुभराग को आस्रव न मानते हुए उस राग से ससार का टूटना, कम होना मानते है, किन्तु वास्तव में शुभ-परिणाम पुण्य है, धर्म नही है । 'हम व्रतधारी है, त्यागी है.' – ऐसे

अभिमान करनेवाले मे तो मन्द कषाय भी नही है; तब सवर, निर्जरा कैसे होगी ? नही ही होगी। जिसने ज्ञानी को पहचाना है, उसे मध्यस्थता एव आदर सहित ज्ञानी का समागम करना चाहिये। उसकी बात पर मध्यस्थतापूर्वक विचार करके मतार्थ, स्वच्छन्दता आदि दोषो को दूर कर अतीन्द्रिय आत्मधर्म का निर्णय करना चाहिये।

पच विषयमा राग-द्वेष विरहितता – पांच इन्द्रियो के विषय, निन्दा-प्रशसा के शब्द, सुन्दर-असुन्दर रूप, खट्टा-मीठा रस, सुगन्ध-दुर्गन्धरूप गध, कोमल-कर्कश आदि स्पर्श – इन सबमें राग-द्वेष नही होना चाहिये और विशेषत. उनकी उपेक्षा रखनी चाहिए। जैसे हाथी के मोटे चमडे पर ककरी का स्पर्श होते हुए भी उसका कोई लक्ष्य नहीं होता, उसीप्रकार स्वरूपस्थिरता के रमण में बाह्य लक्ष्य नही होता। ज्ञातास्वरूप के पूर्ण ध्येय के आगे विषय-कषाय की वृत्ति (विकल्प) भी नही होती। चाहे उनके अनुकूल-प्रतिकूल पुद्गल-रचना के विकृत गध, रस, रूप के ढेर के ढेर पडे हुए हो, किन्तु उनकी तरफ उनका लक्ष्य भी नही होता।

पच प्रमादे न मळे मननो क्षोभ जो – पांच प्रमाद नही हो अर्थात् स्वरूप में असावधानी न हो। प्रमाद पांच प्रकार के हैं – विकथा, कषाय, विषय, निद्रा और स्नेह। अपने स्वरूप के महत्त्व से जो परिचित है, उसे परवस्तु के क्षणिक संयोग की ममता कैसे हो ? जैसे चक्रवर्ती के चौंसठ सेरवाले अति मूल्यवान कई हार होते हैं, उसे कोई भील चिरमी का हार भेंट कर जाय तो उसे (चिरमी के हार के) प्रति ममता नही होती, वैसे ही ज्ञानी धर्मात्मा को विषय-कषाय से क्षोभ नही होता। ज्ञानस्वरूप की स्थिरता के समय किसी भी प्रकार के सयोग-वियोग मे क्षोभ या अस्थिरता नही होती। इसलिए स्वसन्मुख ज्ञातापने में ही सावधान रहूं।

आत्मा की धर्मकथा भूलकर पर-कथा पढे, ऐसी साधु की वृत्ति कभी नहीं होती। ससार की निंदा का रस विकथा है, वह ज्ञानी के नही होती। जिसे मोक्ष की पूर्ण पवित्रता का प्रेम है, वह ससार के विषय, कषाय, निंदा आदि का भाव कैसे करे ? अर्थात् नही ही करे।

प्रगट न हो तब तक मैं अल्पज्ञ हूँ,' – इसप्रकार अपने पूर्ण स्वरूप में स्थिर होने के लिए अत्यन्त निर्मानता, मृदुता प्रगट की गई है। 'जिसे जिसकी रुचि होती है, वह उसका बहुमान करता है,' इस विकल्प के साथ भी पूर्ण अकषायस्वरूप हूँ – ऐसा लक्ष्य मे रखकर शुद्धि की वृद्धि के लिये यह पुरुषार्थ है, ऐसी यह लोकोत्तर विनय है।

अरे! यहाँ चार ज्ञानधारी श्रीगणधरदेव भी सर्वज्ञप्रभु के पास अपनी पामरता प्रगट करते हैं। ससार में विपरीत दृष्टिवाले दूसरो के द्वारा लाभ-हानि मानते है, पुण्यादि की पराधीनता मे सुख मानकर अभिमान करते हैं कि हम शरीर से सुन्दर हैं, आदर-सम्मान एव द्रव्य से बडे है। वे इन उपाधिभावो को अपनाकर अनित्य जड पदार्थ से अपने को वलवान समझते है, लेकिन पुण्यादि जड की उपाधि से अपने को बलवान समझना महा अज्ञानसहित विपरीतदृष्टि है।

धर्मात्मा यह मानता है कि उसमे अनन्त गुण हैं, अनन्त सुख है, किन्तु अभी पूर्ण पवित्र दशा प्रगट नही हुई, इसलिए वह निर्दोष देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति करता है। अपने अनन्त गुणो का बहुमान करते हुए वह विनय से नत होता है। जो पूर्णता का साधक है, उसे पूर्ण पवित्र स्वरूप की आराधना करने मे अल्प दोष भी रखने की बुद्धि नही होती। विनयी धर्मात्मा अत्यन्त कोमल-सरल परिणाम रखता है, वह निर्दोष स्वभाव मे जागृतिवाली भावना भाता है कि मुझमे गर्व का एक अश भी नही रहे – ऐसी निर्मानता-वीतरागदशा मुझे कब होगी?

साधक के अन्तर मे पूर्ण शुद्ध परमात्मस्वरूप की प्रतीति रहती है, इसलिए वह जानता है कि वह अभी वर्तमान दशा मे अस्थिरता-रूप कमजोरी को लिए हुए पामर है अर्थात् वह पूर्णस्वरूप का दासानुदास है। ऐसा विवेक होने से वह वीतरागी साधु का बहुमान करता है। उसे परमार्थ से अपने स्वरूप की भक्ति है। वह पूर्ण स्वभाव अभी प्रगट नही हुआ, इसलिए अभिमान कैसे कर सकता है? ऐसा जानता हुआ वह स्वरूप की मर्यादा मे रहता है।

जीव की सिद्ध परमात्म-दशा पूर्णस्वरूप से निर्मल होने से उसके वाद कोई अन्य मर्यादा लाघने को शेष नही रहती है। जीव का सिद्ध स्वभाव अपने आप मे परिपूर्ण है, किन्तु साधक दशा मे अभी सिद्धो से अनन्तवे भाग भी गुण की शुद्धता प्रगट नही हुई तो उसमे वह अभिमान कैसे करे? मुमुक्षु-साधक आत्मा अति सरल, हित-अहित भाव को समझने में विचक्षण और विनयवान होता है। उसमे पात्रता और लोकोत्तर विनय की महत्ता है। प्रभु का भक्त प्रभु जैसा ही होता है। 'मै परमात्मा का दासानुदास हूँ, चरणरज हूँ' – ऐसी निर्मानता साधक के होती है। वह अपने गुणो पर लक्ष्य कर स्वभाव की शुद्धता वढानेवाला होने से पुण्यादि, देहादि की गुरुता स्वीकार नही करता है।

साधक अभूतपूर्व पवित्र निर्मानदशा (मध्यस्थ दशा – वीतराग दशा) की भावना करता है। पहले अनन्तकाल मे शुभराग मे लौकिक सत्य, सरलता, निर्मानत्व आदि भाव किये हैं लेकिन उनका कुछ भी महत्त्व नही है, किन्तु आत्मा के यथार्थ भानसहित अकषायत्व के लक्ष्य मे कषायादि राग-द्वेष की अस्थिरता का सर्वथा क्षय करूँ – ऐसे अपूर्व अवसर की ही महत्ता है। जीव ने अज्ञानभाव मे तो वहुत किया है – वाह्य मे त्यागी होकर ध्यान मे वैठा हो, तव उसके शरीर को जला दिया जाय अथवा चमडा उतारकर नमक डाल दिया जाय तो भी मन मे जरा-सा भी क्रोध नही करे – ऐसी क्षमा अज्ञानभाव में अनेक वार की, किन्तु अन्तरग मे मन सम्वन्धी शुभ-परिणाम का पक्ष (वन्धभाव) वना रहा, तव भी ज्ञानभावयुक्त निर्जरा नही हुई।

आत्मा के भान विना जो सरलता, विनय, निर्मानत्व, शास्त्रो का पठन आदि है, वे सव मन की धारणारूप परभाव है। जीव उस वन्धभाव (उदयभाव) को अपना मानकर शुभ-अशुभ मे रुचिरूप मे परभाव मे लीन रहा है, किन्तु आत्मा को पर से निराला, निरावलम्वी कैसे रखा जाय – इसकी ज्ञानकला जव तक जीव नही जानता, तव तक उसका सारा श्रम व्यर्थ मे ही जाता है, क्योकि वह अज्ञान तो करे और उसका अपराध से छुटकारा हो, वचाव हो – ऐसा नही होता।

छन्द ७

क्रोधप्रत्ये तो वर्ते क्रोधस्वभावता,
मानप्रत्ये तो दीनपणानुं मान जो;
मायाप्रत्ये माया साक्षी भावनी,
लोभप्रत्ये नहीं लोभ समान जो ।
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ।।७।।

हिन्दी पद्यानुवाद

क्रोधभाव हो तो मैं नाशूं क्रोध को,
मानभाव यदि हो तो रहूँ विनीत मैं;
माया जागे तो माया को क्षय करूं,
लोभ जगे सन्तोष भाव की जीत हो।
अपूर्व अवसर ऐसा कब मेरे आएगा ।।७।।

छन्द ७ पर प्रवचन

जैसी रुचि हो वैसी भावना होती है। आत्मा स्वभावत कषायरूप नहीं है, इसलिए चारों कषायों को छोड़ने का भाव यहाँ बताया है। आत्मा क्रोध, मान, माया और लोभरूप नहीं है, क्रोधादि भूल करना उसका स्वभाव नहीं है, वह भूलरूप होना मानता है, किन्तु स्वयं भूलरूप नहीं होता।

जैसे क्रोध करने का भाव हो, वैसे क्रोध को रोकने के लिए उग्र पुरुषार्थरूप भाव करूँ अर्थात् ज्ञान में स्थिर होऊँ, इसप्रकार ज्ञान-स्वभाव के प्रति रुचि होने से क्रोध रुक जाता है। मक्खी को भी शक्कर और फिटकरी का विवेक है, इसलिए वह शक्कर पर बैठती है और फिटकरी पर नहीं। जिसप्रकार मक्खी को दोनों वस्तुओं के लक्षणों को जानकर ग्रहण-त्याग का विवेक है, उसीप्रकार जीव को भी विवेक करना चाहिए। जड़वस्तु के लक्षण से भिन्न लक्षणवाला मैं राग-द्वेष-रहित, पवित्र ज्ञान-आनन्दस्वरूप हूँ। जैसे मक्खी फिटकरी में खटास

जानकर उसे छोडती है, उसीप्रकार ज्ञानी विवेक द्वारा स्व-पर का लक्षण भिन्न जानकर परभाव – शुभाशुभभाव को छोडता है और स्वानुभव में स्थिर रहता है। आत्मा के अनहद निराकुल आनन्दरस का रसिक मगजपच्ची मे – क्लेश मे क्यो फँसे ? अर्थात् नही फँसेगा।

क्रोधप्रत्ये तो वर्ते क्रोधस्वभावता – मै आत्मा हूँ, सत्-चैतन्यमय हूँ, शुभाशुभ रागादि तथा देहादि सर्वाभास-रहित साक्षीस्वभाव, प्रत्यक्ष ज्ञाता हूँ, परद्रव्य मेरे बाधक नही है। ऐसे साधक को कभी कुछ क्रोधादि भी हो, किन्तु उनसे उसके ज्ञान-श्रद्धान का नाश नही होता। यह ऐसी उपेक्षाभाव की भावना है कि मै उदयभाव में न अटकूं।

जैसे सत्ताप्रिय और पुण्यवान मनुष्य दूसरे को दबाने की कला अच्छी तरह जानता है और पुण्य की सभी सामग्री इकट्ठी होने से वह निर्बल मनुष्यो को तो खडा ही नही रहने देता, वैसे ही चैतन्यप्रभु मे असीमित सामर्थ्य-ज्ञानवल है, वह पुण्य-पाप की वृत्ति को दबाकर दूर कर देता है। साधक को ऐसी स्वसत्ता का वीर्य प्रगट होता है।

'पूर्व प्रकृति की वर्तमान स्थिति दिखाई पडती है, उसका साक्षी ही हूँ, ज्ञाता ही हूँ, इसलिये क्रोधादि को न होने दूं, ऐसे अकषाय शुद्धस्वरूप मे सावधान रहूँ' – ऐसी उत्कृष्ट साधकदशा कब आवेगी, ऐसी भावना यहाँ वार-बार की गई है।

मानप्रत्ये तो दीनपणानुं मान जो – लोकोत्तर विनय और विवेक-सहित दीनता रखना सत्स्वरूप के प्रति बहुमान है, नम्रता है। सच्चे गुरु का दासानुदास हूँ, पूर्णस्वरूप का दास हूँ, इसमे दीनता या गरीबी नही है, किन्तु पूर्ण केवलज्ञानस्वरूप आत्मा की विनय है। जिन व्यक्तियो में जो अनन्त गुण प्रगट हो गये है, उन व्यक्तियो को देखकर उन गुणो को अपने में प्रगट करने की रुचि की विनय है।

शास्त्र में कहा है कि क्रोध को उपशमभाव से जीतो, मान को नम्रता द्वारा दूर करो।

'अहो ! सर्वज्ञ वीतराग प्रभु ! कहाँ आपकी अखण्ड पूर्णस्वरूप आनन्ददशा और कहाँ मेरी अल्पज्ञता, जब तक मुझमे केवलज्ञान

मुनि-अवस्था मे पाँच प्रकार के विषयो तथा क्रोध, मान, माया और लोभ की तीन चौकडियो का अभाव होता है। आत्मस्वरूप में अनुत्साह प्रमाद है। आत्मस्वरूप मे उत्साह अथवा स्वरूप मे सावधानी का नाम अप्रमाद है। ऐसी सर्वोत्कृष्ट साधकदशा (सर्वकाल स्वरूपाचरण) रहे – ऐसी शुद्ध अवस्था की एकाग्रता जल्दी हो, ऐसी यहाँ भावना की गई है।

द्रव्य क्षेत्र अरु काल भाव प्रतिबन्धवण

(१) **द्रव्य-प्रतिबन्ध का अभाव :–** ज्ञानी को कोई पर-वस्तु विना न चले, उसमे अटकना पडे – ऐसा नही होता है। ज्ञानी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के अतिरिक्त और कुछ नही चाहता।

(२) **क्षेत्र-प्रतिबन्ध का अभाव :–** ऐसा नही होता कि अमुक क्षेत्र में जलवायु की अनुकूलता अच्छी है, इसलिए वहाँ ठहरूँ।

(३) **काल-प्रतिबन्ध का अभाव :–** शीत ऋतु मे अमुक क्षेत्र मेरे अनुकूल है, गर्मी में अमुक स्थान पर जाऊँ – ऐसा काल का प्रतिबन्ध नही होता।

(४) **भाव-प्रतिबन्ध अभाव** – किसी भी प्रकार से एकान्त पक्ष का आग्रह न हो। इस स्थान पर मुझे माननेवाले वहुत है अथवा इस स्थान पर अधिक मनुष्य है, उनकी भक्ति अच्छी है, इसलिए वह रहूँ या वहुत भक्तिभाव से आग्रह करते है, इसलिए ठहरूँ – ऐसा भाव (इच्छा) नही होता।

ऐसे चार प्रकार के प्रतिवन्धो से रहित अप्रतिबन्ध मोक्षमार्ग मे अप्रतिहत भाव से कब विचरूँगा – ऐसी भावना यहाँ की गई है।

विचरवु उदयाधीन पण वीतलोभ जो – विहार-स्थलों में लोभकषायरहित सयम-हेतु से उदयाधीन, प्रकृति के योगानुसार विचरना अर्थात् शरीरादि की क्रिया होती है। उदयाधीन अर्थात् पूर्वप्रकृति का जब उदय आवे तो उसको विवेक सहित जाने की यह (कर्मोदय) मेरा कर्तव्य नही है और उसमे ममत्व-राग न करे। अपने ज्ञानभाव से प्रकृति के उदय को जाने और ज्ञान मे ज्ञानरूप से सावधान

रहे, किन्तु उसमें कोई इच्छा, विकल्प या ममत्व नही करे। यहाँ अपूर्व वीतरागदशा के लिये निर्ग्रन्थ मुनि अप्रतिहत दर्शन-ज्ञान-चारित्र-रूप मोक्षमार्ग मे रहे, आत्मा की ऐसी अपूर्व स्थिरता की उत्कृष्ट साधकदशा कब आवेगी – ऐसी भावना भायी है।

"सर्व सबधनु बन्धन तीक्ष्ण छेदीने" – ज्ञान और कर्म उदग की सूक्ष्म सधि को प्रज्ञाद्वारा स्थिरता से छेदकर अकषायत्व के लक्ष्य से विचरने की भावना प्रगट की है और इसलिए कहा है कि "विचरशु कव महत्पुरुषने पथ जो" कोई जिनेश्वर महान पुरुप मिले या मुनिवर सत्पुरुषो का सयोग मिले तो उनके पदचिह्नो का – मार्ग का अनुसरण करूँ – ऐसा अपूर्व अवसर कब आवेगा ? बाह्य और अभ्यतर कर्म-कलक दूर कर आत्मस्वरूप की स्थिरता करूँ – ऐसी साधकदशा की यह भावना है ॥६॥

जो स्वरूप समझे बिना......

जो स्वरूप समझे बिना, पायो दुःख अनत ।
समझाया उन पद नमूं, श्री सद्गुरु भगवत ॥१॥

कोई क्रिया-जड हो रहा, शुष्क ज्ञान में कोय ।
माने मारग मोक्ष का, करुणा उपजे जोय ॥३॥

वैराग्यादि सफल तो, जो सह आतम ज्ञान ।
त्यों ही आतमज्ञान की, प्राप्ती हेतु-निदान ॥६॥

त्याग-विराग न चित्त में, होय उनको ज्ञान ।
अटके त्याग-विराग मे, वो भूले निज भान ॥७॥

जहाँ-जहाँ जो जो योग्य है, वहाँ समझले तेह ।
वहाँ वहाँ वह वह आचरे, आत्मार्थि जन एह ॥८॥

सेवे सद्गुरु चरण को, त्याग करे निज पक्ष ।
पावे वह परमार्थ को, निज पद का लहि लक्ष ॥९॥

– श्रीमद् राजचन्द्र : आत्मसिद्धि शास्त्र

मायाप्रत्ये माया साक्षीभावनो – कपट भाव की तुच्छ वृत्ति के समक्ष नित्य सरल-महिमावत अखण्ड ज्ञायक साक्षीभाव की जागृतिरूप निर्दोष विचक्षणता विकसित हो तो गुण द्वारा दोष दूर हो ।

कोई कहता है कि ससार मे **'शठे साठ्यं समाचरेत्'** क्योकि वैसा किये बिना काम नही चलता । स्त्री-पुत्रादिक सब अनुशासन मे रहे, इसलिए हमें तो घर व दुनियादारी के लिए कषाय करनी ही पडती है । उसको ज्ञानी कहते हैं कि तुम्हारी यह मान्यता विपरीत है, भ्रम है । पाप करूँगा, क्रोध-कपट करूँगा तो सब ठीक रहेगा अर्थात् दोष से लाभ हो – यह कैसे बने ? जो ऐसे विपरीत सिद्धान्त को मान्य करते है, वे क्रोध-कपट को नही छोड सकते, क्योकि शठ के प्रति शठता करना स्वय अपराध है । शठ के प्रति भी सरलता सज्जनता होनी चाहिये ।

प्रयोजनवश किसी को सूचना देने का विकल्प आ जाय, यह अलग बात है, किन्तु कषाय करने योग्य है – ऐसी मान्यता तो विपरीत ही है । थोडा-बहुत क्रोध, मान, माया, लोभ करूँ तो सब ठीक बना रहे – ऐसा जो मानता है, उसका अर्थ यह हुआ कि अवगुण करूँ, दोष-दम्भ करूँ तो ही अच्छा रहे, ये सब विपरीत मान्यता है । दोष करने योग्य मानने में दोष रखने की बुद्धि हुई तो उससे गुण कैसे प्रगट हो ? इसलिए आत्मा का हित करना हो तो यह निर्णय करना चाहिए कि मेरा स्वभाव असीम समता-क्षमारूप है ।

ससार देहादि परद्रव्य की व्यवस्था मे कोई किसी के अधिकार मे नही । प्रत्येक वस्तु का कार्य स्वतत्र है । कोई वस्तु दूसरे के अधीन नही है । किसी के राग-द्वेष करने से वह चीज अनुकूल नही होती, पूर्व का पुण्य हो तो अनुकूल दिखती है, किन्तु कोई चीज या कोई आत्मा किसी के अधीन नही है ।

कोई कहे 'व्यापक प्रेम करने से जगत् वश में होता है, इसलिए विश्व भर से प्रेम करना – प्रेम का विस्तार करना चाहिए । इसका यह अर्थ होता है कि अधिक राग करूँ तो सब मेरे अनुकूल हो जायँ, तब मुझे शाति की प्राप्ति हो, किन्तु ऐसा होता नही, क्योकि सब स्वतत्र

है, इसलिए परद्रव्य से धर्म और शान्ति माननेवाले पर के आश्रित अपना समाधान करना चाहते है, उनके सभी सिद्धान्त झूठे है ।

निर्दोष मोक्षमार्ग मे तो परसयोग की अपेक्षा रहित, राग-द्वेष-विषय-कषाय रहित, त्रिकाली ज्ञायक हूँ, पर से भिन्न पूर्ण पवित्र ज्ञानमय हूँ रागादिरूप नही हूँ, शरीरादि की क्रिया नही कर सकता, पुण्यादि परचीज की सहायता की दीनता या अपेक्षावाला नही हूँ, अकेला पूर्ण ज्ञान-आनन्दस्वभावी हूँ – ऐसी स्वलक्ष्य की स्थिरतारूप पवित्र दशा प्रगट करने का पुरुषार्थ अपने से ही होता है, उसमें परवस्तु की आवश्यकता हो – ऐसी पराधीनता नही है, क्योकि प्रत्येक आत्मा का ज्ञानस्वभाव सदैव ही स्वतन्त्र है ।

पूर्ण स्थिरता मे न रह सके, तब निर्दोष देव-गुरु-शास्त्र तथा वीतराग धर्म के प्रति विनय-भक्तिरूप झुकाव रहता है । वहाँ भी वीतरागता की रुचि की लगन है । उसमे थोडा भी राग-द्वेप आदरणीय नही है तो फिर पर का करूँ या न करूँ – ऐसी वात कैसे हो ? क्योकि कोई आत्मा पर का कुछ नही कर सकता । इसलिए जिन्हे अपने हितरूप सम्यक्मार्ग अपनाना है, स्वाधीन ज्ञातापन में स्थित रहकर, अपना सच्चा हित करना है, उन्हे अपने निर्दोष ज्ञानस्वभाव द्वारा समझना चाहिये कि मिथ्या-अभिप्राय आदि दोप से गुण प्रगट नही होता, इसलिए त्रिकाली वस्तुस्वरूप को सर्वज्ञ-वीतराग कथित नय-प्रमाण द्वारा समझना चाहिये ।

आत्मा सदैव ज्ञान-आनन्दस्वरूप निर्दोष साक्षी है । मै ज्ञाता हूँ, पूर्ण हूँ, शुद्ध हूँ – ऐसी श्रद्धा, उस स्वाधीन पूर्ण स्वरूप का ज्ञान और उसका ही आचरण होने पर थोडा-सा भी क्रोध, मान, माया, लोभ आदरणीय नही होते । वर्तमान पुरुपार्थ की कमजोरी से अल्पकपाय की अस्थिरता हो – यह भिन्न बात है, किन्तु हम गृहस्थी है, इसलिए हमे थोडा राग-द्वेष भी करना चाहिये तो ही सब ठीक रहे – यह अभिप्राय मिथ्या है, क्योकि पूर्वपुण्य विना बाह्य की अनुकूलता नही मिलती । वास्तव में बाह्य की अनुकूलता है – ऐसा कहना कल्पनामात्र है । मै घर, ससार, देहादि को ऐसे ही ठीक रख सकता हूँ, सबको

वश मे रख सकता हूँ, पर मुझे सहायक हैं, मैं दूसरे की सहायता कर सकता हूँ – यह मान्यता अज्ञान है, मिथ्यादर्शन नामक-शल्य है ।

प्राचीनकाल में किसी महान् राज्य का स्वामी एक परदेशी नाम का राजा था, किन्तु एक समय ऐसा हुआ कि उसकी रानी ने ही उसे जहर दे दिया – ऐसा जानकर भी उसने अपनी स्त्री पर क्रोध नहीं किया और जाना कि इस शरीर का अन्त इसीप्रकार से होना था । मैं किसी परवस्तु का स्वामी नहीं हूँ, स्त्री ने मेरे शरीर से लाभ न होता हुआ माना, इससे उसने द्वेषरूप यह कार्य किया । मैं अपना ज्ञानरूप कार्य करूँ, जहर खिलाया – यह भी जान लिया । मैं तो असयोगी ज्ञाता ही हूँ – ऐसा विचार करते-करते राजा ने अपने बेहद पवित्र ज्ञाता स्वभाव की महिमा मे स्थिर होकर महापवित्र समाधि-दशा में – ज्ञानभाव में देह छोडी, किन्तु अपनी राज्यसत्ता का उपयोग नहीं किया । यह उसकी भूल नहीं थी, किन्तु ज्ञानी की विचक्षणा थी, विवेक था ।

कोई कहे कि मैं परचीज मे विवेक से काम कर सकता हूँ, किन्तु किसी का किसी द्वारा कुछ भी नहीं हो सकता है । जीव ज्ञान मे स्व को भूलकर मात्र राग-द्वेष व कर्त्ता-भोक्ता का भाव कर सकता है । प्रत्येक आत्मा अपने अनन्त गुणो युक्त, अनन्त सामर्थ्ययुक्त है । तीनकाल और तीनलोक मे कोई भी पर की क्रिया करने को समर्थ नहीं है । एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी कार्य नहीं कर सकता । निमित्तरूप से कर्त्ता हूँ – ऐसा मानना भी अज्ञान है, क्योंकि पर को दवाने का कषायभाव करे तो भी पर से लाभ-हानि नही हो सकते, अत अपने त्रैकालिक स्वभाव के लक्ष्य में ज्ञानस्वभाव की जागृति और शान्तिरूप रहे तो निर्मलता प्रगट हो ।

कोई वस्तु पराधीन नही है । प्रत्येक पदार्थ सर्वथा स्वतत्र है, भिन्न-भिन्न है । अनादि और अनन्तरूप से अपने आपमें परिपूर्ण है । मात्र स्वभाव का लक्ष्य करके अनादिकालीन विपरीत अभिप्राय (खोटी मान्यता) दूर करने की प्रथम आवश्यकता है ।

सच्चा ज्ञानी अन्तरग से समाधान करता है और अज्ञानी पर में इष्ट-अनिष्ट कल्पना करता है। कुटुम्ब में किसी की भूल हो जाय तो विवेक से समाधान करना चाहिये। पति में भूल हो तो स्त्री उपेक्षा करती है, सहन करती है, कभी स्त्री भूल करे तो उसका पति जरा भी सहन न करे – यह न्याय नही है। लौकिक नीति-व्यवहार में सज्जनता का दावा करनेवाला अपने मान्य सिद्धान्तो के लिये बहुत कुछ सहन करता है और इस नीति के लिए अन्य सबकी उपेक्षा करता है। इसीप्रकार आत्मधर्म में व्यवहारिक सज्जनता होनी ही चाहिए। अखिल ससार की स्थिति क्या है – यह जो विवेक से तथा समझपूर्वक धैर्य से जानता है, वह अन्य को दोष-दु ख देने का भाव नही करता।

प्रश्न :– आपकी बात सच्ची है, किन्तु घर-ससार में रह कर ऐसा होना असम्भव है।

उत्तर – परसयोग किसी का लाभ या नुकसान नही करा सकते, अज्ञान से मानो भले ही। जिसे ऐसा अभिमान है कि यदि हम क्रोधादि कषाय न करे तो काम नही चले, मान, इज्जत, अनुकूलता नही मिले, लोक मे निर्बल कहलायें, किन्तु उसके ऐसे अभिप्रायानुसार पर में कुछ भी नही होता, इसलिये ऐसी मान्यता खोटी है।

१ जिन्होने तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ मे चैतन्यवीर्य को सलग्न कर दिया है, पर को दबाया और अनीतिपूर्ण अभद्र आचरण किये है, वे भयकर नरकगति में नपुसक हुये है। तथा नपुसक जीव को स्त्री-पुरुष दोनो के प्रति काम-भोग की अनन्ती तीव्र आकुलता होती है।

२ जो क्रोध, मान, लोभ मे थोडे लगे, लेकिन जिन्होने कपट अधिक किया, वे तिर्यंच-पशु हुये।

३ जो मन्दकषाय के मध्यमभाव में रहे, वे मनुष्य हुये।

४. जो शुभभाव मे बढे, वे देव हुये।

५ जिन्होने स्वरूप की स्थिरता द्वारा कषाय मे अपना उपयोग सर्वथा नही लगाया, वे वीतरागी सिद्ध-परमात्मा हुये।

'इसप्रकार सब जीव सिद्ध समान हैं' – ऐसा जो समझता है, वह सिद्ध होता है। सिद्ध परमात्मा के समान पूर्ण पवित्र शक्ति प्रत्येक आत्मा में निहित है, जो इसे समझे वह वैसा हो सकता है; किन्तु असीम ज्ञान को, समतास्वरूप की पवित्र शांति को भूलकर क्रोध, मान, माया, लोभरूप विषय-वासना मे लीन होना, परवस्तु में इष्टबुद्धि करना महापाप है, स्वाधीन स्वरूप की अनन्ती हिंसा है। क्रोधादि तुच्छ भावो को धारण करने में अपनी हीनता या नपुसकता है। अत सर्वप्रथम आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानकर पर में इष्ट-अनिष्ट कल्पना व पर मे कर्तृत्व व भोक्तृत्व मानने का अभिप्राय बदल कर ऐसा निर्णय करे कि मेरे नित्य ज्ञानस्वभाव में जरा भी क्रोध, मान, माया, लोभ नही है, क्लेश नही है, इसलिए ये करने योग्य नहीं हैं।

हित-अहितरूप परिणाम तो अपना ही भाव होने से उसे पहचान कर अपने वश में रख सकता है, किन्तु पर का कुछ भी नही कर सकता – ऐसे विवेक स्वभाव से निश्चित होने पर यह निश्चित हुआ कि क्र धादि दोष द्वारा स्त्री-पुत्र आदि ठीक रहे और वश मे रहे – ऐसा मानना झूठा ही है। इसलिए त्रिकालीस्वरूप मे विवेकी दृष्टि रखकर अवगुण (दोष) करने का लक्ष्य स्वप्न मे भी नहीं करना चाहिये। जरा भी क्रोधादि कषाय मेरे नित्य तत्त्व मे नहीं है, इसलिए इन्हे न होने दूँ, स्वसन्मुख ज्ञाता ही रहूँ – ऐसी भावना निरन्तर रखनी चाहिए। अर्थात् स्वसन्मुख ज्ञातापना और उसमे धीरज रखने का विशष पुरुषार्थ करना वह अपने अधिकार मे है।

जैसे ज्ञानस्वभाव की जागृति छिपाकर दूसरे से कपटभाव किया करता था, वैसी प्रवृत्ति छोडकर मैं अखण्ड ज्ञानस्वभाव की जागृति इसप्रकार रखूं कि किसी प्रकार का कपट अश आवे तो उससे भिन्न ही रहूँ, निर्दोष साक्षीभाव को ज्ञानदृष्टि द्वारा जान लूँ। स्वभाव की जागृति में अशमात्र भी कपट नही आने दूँ, पवित्र सरल स्वभाव की दृष्टि और महिमा द्वारा माया (कुटिल) भाव को जीत लूँ – ऐसी मेरी भावना है।

लोभ प्रत्ये नहिं लोभ समान जो – जैसे लोभ मे 'लोभ करने योग्य है' – ऐसा ममत्वभाव था, अब मै इस लोभ के प्रति अशमात्र भी लोभ नही रखूं, किन्तु निर्लोभतारूप अकषायी सन्तोषभाव से आत्मा में स्थिर रहूँ, परम शातिमय मेरे आत्मा मे तृप्त रहूँ। मै अनन्त ज्ञान-शाति स्वभावी हूँ। ज्ञानस्वभाव में स्थिरता द्वारा निर्मलता प्रकट होने से त्रिकाल और त्रिलोक का ज्ञान प्राप्त होता है, उस पूर्ण आनन्दस्वभाव को भूलकर परसयोग मे सुखबुद्धि मानकर विपरीत हुआ, इससे तीनकाल और तीनलोक के परिग्रह की तृष्णा बढती जाती है, किन्तु उस तृष्णा का पेट कभी भरा हो – ऐसा नही होता।

अज्ञानभाव मे अनन्ती तृष्णा द्वारा जैसे लोभ करने में असीमता थी, वैसे ही मै ज्ञानस्वभाव मे दृढ होने से बेहद सन्तोपस्वरूप पूर्ण शुद्धता के ज्ञान द्वारा अनन्त ज्ञान एव सन्तोष रख सकता हूँ। ससार की वासना को दूर कर मै पुण्य-पापरहित पूर्ण शुद्ध पवित्रता मे ठहरूँ और नित्य स्वभाव का सन्तोप प्राप्त करूँ – ऐसी यह भावना है।

पूर्ण पवित्र सिद्धपद अपने में शक्तिरूप मे है, उसकी प्राप्ति के लोभ का विकल्प छट्ठे गुणस्थान तक होता है, किन्तु दृष्टि में पूर्ण का आदर होने से शुभ विकल्प का भी नकार है और भविष्य में 'प्रभु की आज्ञा से उसी स्वरूप में लीन होऊँगा' – इसका वर्तमान में सतोष है अर्थात् ससार के पुण्यादि परमाणुओ की इच्छा नही है, किन्तु मोक्ष की इच्छा का विकल्प छूटकर स्वरूप की स्थिरता की अपूर्व प्राप्ति कब होगी ? ऐसी यहाँ भावना की गई है। ● ●

प्रत्यक्ष सद्‌गुरु सम नही......

आत्मज्ञान समदर्शिता, विचरे उदय प्रयोग।
अपूर्व वाणी परमश्रुत, सद्‌गुरु लक्षण योग ॥१०॥

प्रत्यक्ष सद्‌गुरु सम नहीं, परोक्ष जिन उपकार।
ऐसा लक्ष हुए बिना, उगे न आत्म विचार ॥११॥

– श्रीमद्‌ राजचन्द्र : आत्मसिद्धि शास्त्र

छन्द ८

बहु उपसर्गकर्ता प्रत्ये पण क्रोध नहीं,
वंदे चक्री तथापि न मळे मान जो;
देह जाय पण माया थाय न रोममां,
लोभ नहीं छो प्रबल सिद्धि निदान जो।
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ॥८॥

हिन्दी पद्यानुवाद

बहु उपसर्ग करे उन पर ना खेद हो,
चक्री भी वन्दे तो कुछ ना मान हो;
तन जाये तो माया हो ना रोम में,
ऋद्धि-सिद्धि का लोभ न मेरे ध्यान हो।
अपूर्व अवसर ऐसा कब मेरे आएगा ॥८॥

छन्द ८ पर प्रवचन

'अपूर्व अवसर' की भावना में ऐसी रुचि का चिन्तन है कि उत्कृष्ट साधकदशा प्रकट हो और शुभाशुभ भावो का क्षय करूँ कि जिससे पुन बन्धन मे न फँसूं। प्रथम श्रद्धा मे अवन्धदशा द्वारा मिथ्यात्वरूपी विकल्प को दूर किया, अव अपने शुद्धदशारूप पुरुषार्थ को उग्र करके सर्व कर्म-उदय की सूक्ष्म सधि को पुरुषार्थ द्वारा तोड दूँ, ऐसी साधकदशा कव आवेगी – ऐसी भावना यहाँ की गई है। अत्यधिक उपसर्ग करनेवाले के प्रति भी लेशमात्र क्रोध न हो – ऐसी यह भावना है। क्रोधादि कषाय करने का अभिप्राय नही है, किन्तु स्वरूपस्थिरता की दृढता का, उग्रता का पुरुषार्थ करूँ – ऐसी यहाँ भावना है।

स्वय निरपराधी होते हुए भी किसी देव, मनुष्य, तिर्यंच अथवा अचेतन प्रकृतिकृत घोर उपसर्गजनित असाता का उदय हो तो भी उसके प्रति लेशमात्र भी क्रोध नही करूँ, क्योकि पहले असाता

वेदनीयादि अनेक कर्म बांधे हैं, वे अपनी स्थिति अनुसार फल देकर निर्जरा को प्राप्त होते हैं, वे अस्थायी हैं, उनसे ज्ञानगुण को कोई हानि नही होती।

कोई यह माने कि मैने बहुत सहन किया तो उसकी यह मान्यता झूठी है, क्योकि ज्ञान का स्वभाव असीमरूप से जानना है। जिसे केवलज्ञान प्रकट हो, वहाँ सब अनन्त को सहज ही जाना जाता है। उस दशा के बिना 'मैने बहुत जान लिया, सहन किया' – ऐसा मानना भूल है।

कोई कहे कि कोई मुझे गाली दे, मेरी निन्दा करे तो कितनी बार सहन करूँ? सहन करने की कोई सीमा तो होनी चाहिए? किन्तु ऐसा नही है। सहन करना अर्थात सम्यग्ज्ञान के द्वारा कार्य को विवेकरूप जान लेना है। अनन्ती प्रतिकूलता के सयोग दिखाई पडते हुए भी ज्ञान रुकने के स्वभाववाला नही है; जानने में दोष या दुख नही है। जो जैसा है वैसा जानना तो गुण है, उसमें अनन्ती समता है। आत्मा सदैव ही बेहद ज्ञान समता का समुद्र है, परचीज को जानता हूँ – ऐसा कहना व्यवहारमात्र है, वास्तव मे स्वय अपने ज्ञान की स्वच्छता को अपने मे जानता है, देखता है, परवस्तु किसी को बिगाड़नेवाली या सुधारनेवाली नही है।

आत्मा स्वाधीन ज्ञानस्वरूप है। वह रागादि या देहादि परवस्तु-रूप तीनकाल मे भी नही है। एक द्रव्य में परद्रव्य का कारण-कार्यभाव, पराधीनता या पर का सहायकत्व तीनलोक और तीनकाल में नही है। घास के एक तिनके के दो टुकड करने की ताकत किसी आत्मा मे नही है, फिर भी कोई ऐसा माने कि आत्मा मे ऐसी ताकत है तो उसकी मान्यता झूठी है, उसे स्वतन्त्र ज्ञानस्वभावी आत्मा का तथा पुद्गल की स्वतन्त्रता का भान नही है।

जिनकी दृष्टि निमित्त पर है, उन्होने राग को करने योग्य माना है। मुझे पर से लाभ-हानि है – ऐसा जो मानता है, उसने अनन्त पर के साथ अनन्त राग-द्वेष को करने योग्य माना है। उनकी विपरीत मान्यता में तीनो काल राग-द्वेष करने योग्य है – ऐसा आया.

किन्तु ज्ञान में स्वलक्ष्य से ज्ञान का समाधान करना चाहिए – ऐसा उन्होने स्वीकार नही किया। जिन्होने सर्वज्ञ-वीतराग के न्याय से यथार्थ ज्ञानस्वभाव को जानकर अनादि-अनन्त एकरूप, पर से भिन्नरूप जाननेवाला मैं हूँ – ऐसे बेहद अपरिमित ज्ञान व समता-स्वरूप की प्रतीति की, उनको ज्ञानस्वभाव का धैर्य किसी प्रकार नही छूट सकता। इसलिये गृहस्थदशा मे भी अखण्ड ज्ञानस्वभाव की प्रतीति में बेहद समता सहज ही आती है।

ज्ञान तो गुण है, गुण से दोष की उत्पत्ति सभव नही है। जिन्होने ज्ञान को अपना स्वरूप स्वीकार किया, उन्होने उसको पर से प्रतिरुद्ध होना नही माना। ज्ञान मे जो जैसा है, उसे वैसा जान लेना तो गुण है। ज्ञान का कार्य तो जानना मात्र है, लेकिन राग का कार्य परवस्तु मे इष्ट-अनिष्ट कल्पना करना है। ज्ञान तो प्रत्येक आत्मा का स्वतन्त्र अखण्ड स्वभाव है, वह किसी भी काल मे जानने से समाप्त हो या अटक जाय – ऐसा नही है।

जिन्हे परवस्तु मे तीव्र स्नेह है, उन्हे तृष्णा और मोहरहित ज्ञानस्वभावी आत्मा की पहचान नहीं है। अमुक मोह दूर किए बिना धर्म के समीप आना नही होता। खर्च करने से पैसा नष्ट नहीं होता, यह लौकिक न्याय का सिद्धान्त है। मध्यस्थ भाव से यथार्थरूप से प्राकृतिक नियम समझना चाहिए कि दान देने से धन नष्ट नहीं होता, किन्तु पुण्य नष्ट होने से धन नष्ट होता है।

निर्लोभी अकषायी पवित्र आत्मस्वरूप की पहचान होने के पश्चात् शुद्धात्मा का लक्ष्य निरावलम्बी ज्ञान-भाव ही रहता है, अत. सर्वप्रथम ससार के प्रति अशुभ राग छूट जाने के पश्चात् सच्चे धर्म की प्रभावना के लिये लोभ कषाय का त्याग होता है। सच्चे धर्म की साधना करनेवाले मुनिगण स्थिर रहे; साथ ही मेरा वीतरागभाव बढ जाय – ऐसी भावनावाले गृहस्थ के अशुभ से बचने के लिये दानादि क्रिया हुए बिना नही रहती। यहाँ पर की क्रिया के साथ सम्बन्ध नहीं है, किन्तु गुण की रुचि में राग सर्वथा दूर नहीं हुआ, इसलिये जो राग रहा, उसकी दिशा वह गृहस्थ बदलता है, लेकिन शुभराग

को धर्म मे सहायक नही मानता। पर से सर्वथा भिन्न निवृत्ति-स्वरूप ज्ञानस्वरूप मैं हूँ – ऐसी स्वाधीन तत्त्व की रुचि राग का नाश करनेवाली है; इसलिए ब्रह्मचर्य, सत्य आदि सद्‌गुणो की रुचि हुए विना नही रहती।

स्वरूप की सच्ची पहिचान होते ही तुरन्त त्यागी हो जाय – ऐसा नियम नही है। जिसे स्वरूप की सच्ची पहिचान हो जाय, उसके व्यवहार-नीति और पारमार्थिक सत्य प्रगटे विना नही रहता। जहाँ पारमार्थिक सत्य है, वहां व्यवहार में सत्य वचनादि होते ही है। जिसने सत्य का भान किया है, उसे असत्-खोटी समझ का अंश भी नही रहता – यह अटल नियम है।

रुचि का अनुयायी वीर्य (पुरुषार्थ – बल) है। जिसमे जिसका प्रेम होता है, वह उस इष्ट की प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ करता ही है; जिसमें जिसकी रुचि होती है, उसकी प्राप्ति के लिए वह मर-पचकर भी प्रयत्न करता है – ऐसा नियम है। यदि कोई पराधीनता का दुःख देखे, तो वह दोष-दुःखरहित अकेला है – ऐसा विचार करके अन्य सबकी उपेक्षा कर छूटने का उपाय अवश्य करे। जैसे कीडा या लट पत्थर के नीचे दबा हुआ भी जीने के लोभ से, शरीर पर बहुत वजन होने पर भी भले ही देह के टुकडे हो जाये – ऐसा अन्तरग में जोर देकर वाहर निकलता है, इसीप्रकार मकोडा जब किसी से चिपट जाता है तो भले ही आधा शरीर टूट जाय, किन्तु छोडता नही, ऐसे ही प्रत्येक जीव अपने सकलित कार्य को करता हुआ दिखता है।

अत यह सिद्ध हुआ कि समझ के अनुसार रुचि और रुचि के अनुसार पुरुषार्थ होता है। जिसे जिसप्रकार का श्रद्धान दृढ हो जाय व इष्ट मान ले, वह उसकी प्राप्ति के लिये पूर्ण पुरुषार्थ करता ही है, उसके लिये वह अपने शरीर की भी परवाह नही करता। (परवस्तु को कोई प्राप्त नही कर सकता, कल्पना से प्राप्त की – ऐसा भले ही मान ले।) लौकिक कहावत है कि देह का नाश हो तो हो जाय, किन्तु इष्ट प्रयोजन की प्राप्ति करके ही रहेगे।

उसीप्रकार अनन्तकाल की पराधीनता, राग-द्वेष-अज्ञानभाव से छूटने का उपाय जिन्होंने अपने ज्ञानस्वभाव द्वारा जान लिया, उन्हे उसकी रुचि क्यो नही होगी ? मै सदैव अपने ज्ञानादि अनन्त गुणो से परिपूर्ण हूँ, शुद्ध हूँ, रागादि पुण्य-पाप, शुभाशुभ, पर-उपाधि और देहादि मेरे मे नही है, मै सदा पर से भिन्न ही हूँ – ऐसा जिसने जान लिया है, वह यथार्थ स्वरूप की नि शक श्रद्धा में ज्ञानवल द्वारा, स्वाधीन स्वरूप की एकाग्रता से, पूर्ण सिद्धपद प्राप्त करने के लिये स्वरूप-रस मे लीन हो तो कैसे डिगेगा ? अर्थात् नही डिग सकता। भले ही शरीर छूट जाय, किन्तु इस पूर्णस्वभाव की शुद्धता की सन्धि और शुक्लध्यान की श्रणी न छूट – ऐसा यह अपूर्व अवसर (अव – निश्चय, सर – श्रेयोमार्ग) मेरे लिये कव आएगा – ऐसी यह भावना की गई है।

'मै पर से भिन्न, त्रिकाली ज्ञानस्वभावरूप हूँ, किसी के द्वारा रुकनेवाला नही, पररूप नही, रागादिरूप नही, दूसरे की तरफ झुकाव का अशुद्धभाव तो एक समय की अवस्था जितना ही है। मैं नित्य टकोत्कीर्ण ज्ञायक एकरूप हूँ, किसी निमित्त की अपेक्षावाला नहीं हूँ – ऐसा समझनेवाला प्रत्येक आत्मा पूर्ण स्वतत्र भगवान है। सर्वज्ञ भगवान के शासन मे सम्पूर्ण जगत् का न्याय निहित है, तटस्थतापूर्वक स्वतत्र स्वभाव से विचार करने पर सर्वज्ञ के उक्त न्याय के अनुसार सारा ज्ञान आत्मा में है।

बहु उपसर्ग-कर्त्ता प्रत्ये पण क्रोध नहि – 'बहु' शब्द उपसर्ग की असीमता सूचित करता है। ज्ञानी का उपसर्ग के समक्ष भी 'वह क्षमा स्वभाव' जाग्रत है। क्षमा अर्थात् स्वभाव से परिपूर्ण ज्ञानदृष्टि में किसी के दोष दिखाई नही पडते, क्योकि कोई वस्तु दोषरूप नही है। भले ही घोर प्रतिकूलता का प्रसग ज्ञान की स्वच्छता मे जाना जाय, किन्तु उससे ज्ञानी को वाधा नही होती। अशुभ कर्म के सयोग में ज्ञानी जानता है कि विपरीत पुरुषार्थ द्वारा विकारी पर्याय पहले अपनाई थी, उसी भूल का फल यह अशुभ कर्म का सयोग वर्तमान मे दिखाई दे रहा है, किन्तु अब मै त्रिकाली अखण्ड ज्ञानस्वभाव का स्वामी होने से

भूलरूप परिणमन नही करता, किन्तु निर्दोष ज्ञाताभावरूप होने से भूलरहित स्वभाव के भान में स्थिर होकर भूतकालीन अवस्था और निमित्त का ज्ञानमात्र करता हूँ ।

ज्ञानी जिन सयोगो को देखता है, उनमे हर्ष-शोक नही करता। निर्दोष ज्ञानस्वभाव का लक्ष्य रख कर भी ज्ञानी के अल्प राग-द्वेष होते है, किन्तु उसकी मुख्यता नहीं है, मै त्रिकाली ज्ञानस्वभावी हूँ, इसकी मुख्यता है। ऐसा विचारकर नि शक स्वभाव मे सच्चा अभिप्राय लाओ कि मै राग-द्वेप-मोहरूप नही हूँ, क्योकि वे मेरे स्वभाव नही है, इसलिये कपाय अशमात्र भी करने योग्य नही है, राग-द्वेप न होने देऊँ अर्थात् जाग्रत ज्ञानस्वभाव की बेहदता मे स्थिर रहूँ – ऐसा अभिप्राय जाग्रत रखना ही ज्ञान की क्रिया है ।

अल्प राग का अश अभी होता है, यह अलग बात है, किन्तु हमें राग-द्वेष करने पडते है – ऐसा मानने मे तो वहुत अहित है । मै दूसरो को समझा दूं मेरे द्वारा दूसरे समझते है, मेरी सलाह से सब भली प्रकार से रहते है, इसप्रकार पर की व्यवस्था का कर्तृत्व एव ममत्व रखूं – ऐसी मान्यता महापाप है । पर का कुछ भी कार्य कर सकूं – यह विपरीत अभिप्राय है और उस अभिप्राय मे अनन्ती आसक्ति है, इसलिए सर्वप्रथम इस अभिप्राय को बदलना चाहिए ।

मै सदा ही पर से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूपी हूँ, मै ज्ञान के सिवाय कुछ भी नही कर सकता । मै पराश्रय से होनेवाले भाव को नित्य स्वभाव की भावना द्वारा दूर करनेवाला हूँ, 'पर' मुझे सहायक नही हो सकता । मेरा कर्त्तव्य तो यह है कि रागरहित, परावलम्बन-रहित ज्ञान करूँ । मै पूर्ण पवित्र ज्ञानमात्र हूँ – ऐसे अभिप्राय को मै निरन्तर बनाये रखूँ और स्वरूप की दृढता बढे – यही हितकर है ।

भले ही किसी को प्रसगवश सलाह-सूचना देने का विकल्प आवे, किन्तु उसमे किसी प्रकार का आग्रह या ममत्व नही होना चाहिये । मेरी वात से कोई सुधरे या बिगडे – इसका कर्तृत्व-ममत्व मै छोड देता हूँ । तत्पश्चात् वह सुधरे या न सुधरे – यह उसके भावो पर निर्भर है, मै

किसी का कुछ कर नही देता। मै तीनो काल मे ज्ञान ही करता हूँ – ऐसा मानने से राग-द्वेप होने का अवकाश नही रहता, सुधरना तो उसे स्वय को है। त्रिकाली द्रव्यस्वभाव मे कुछ बिगाड नही होता वर्तमान एक समय की अवस्था में पराश्रय कर जीव नये राग-द्वेष करता है – यह उसकी भूल है। इस भूल को वह नित्य ज्ञानस्वभाव के लक्ष्य और स्थिरता द्वारा दूर कर सकता है; इसलिये समाधान स्वय को ही करना है, पर से कुछ भी नही है। इसी मे अनेक प्रश्नो का समाधान हो जाता है।

मै दूसरे को शीघ्र समझा दूं, मै पर की व्यवस्था रख सकता हूँ – ऐसी मान्यतायें सब मिथ्या है। जिसने आपने आपको सुधार लिया, उसके लिए सारा जगत् सुधर गया, जिसने स्वाधीन स्वरूप द्वारा निजात्मा को अविरोध रूप से जान लिया, उसको कोई विघ्न नही है। चाहे अनुकूल या प्रतिकूल बहुत उपसर्ग आवे, उनमें ज्ञान को क्या ? उपसर्ग चार प्रकार के हैं – देवकृत, मनुष्यकृत, पशुकृत और अचेतनकृत। उनमें किसी के प्रति भी क्रोध नही आवे – ऐसी भावना है।

कोई माने कि मैं अपने भाई, मित्र, पुत्र, समाज आदि का इतना उपकारी रहा हूँ, किन्तु वे फिर भी मेरी निन्दा आदि द्वारा प्रतिकूलता उपस्थित कर मुझे हैरान कर देते हैं – ऐसा मानना भी मिथ्या भ्रम है। इन सब सयोगो में पूर्वकर्म निमित्त हैं, तू उनमें अपने इष्ट-अनिष्ट -रूप होने की कल्पना करता है। अरे ! निमित्त आत्मा में नही हैं, और वह तुझे जबरदस्ती से बिगाड नही सकता।

कोई भी परवस्तु दूसरे को राग, द्वेष या क्रोधादि नही करा देती। आत्मा अरूपी, ज्ञानघन, ज्ञानपिंड है; उसमें राग-द्वेष उपाधि का अश नही है। तब परवस्तु के प्रति क्षोभ किसलिए करना चाहिए ? जो वस्तु पर है, वह सर्वथा भिन्न अपने स्वभाव में स्थित है। ऐसे स्वतन्त्र वस्तुस्वभाव को कोई भिन्न जान ले तो उसे ज्ञात होगा कि मेरे मे न क्रोध है, न द्वेष है, न हठ है, न उपाधि है।

आत्मा ज्ञाता है, साक्षी है, उसके अरूपी ज्ञान में प्रीति या अप्रीति आदि विकल्पो का अश भी नही है। परवस्तु किसी के लिए इष्ट-अनिष्ट नही है, लौकिकजन परवस्तु में इष्ट-अनिष्ट, सुख-दु ख की कल्पना कर लेते है और अपने को रागस्वरूप मानते हैं, किन्तु यदि आत्मा रागादिरूप हो तो राग दूर नही किया जा सकता। जीव पर के कारण से अपने को सुखी-दुखी मानता है – यह भी वास्तविक नही है। यदि जीव को पर से दु ख होता हो तो जीव कभी क्षमा नही रख सकता, किन्तु ऐसा नही होता। आत्मा चाहे तो कितने भी प्रतिकूल सयोगो या प्रसगो मे क्षमा, समता, शान्ति रख सकता है; उसमें कोई बाधा नही दे सकता। निमित्त चाहे जैसा मिले, किन्तु हम उसमें से सुलटा अर्थ कर सकते है।

पवित्र ज्ञानी की भी कभी निन्दा नही होती है। यद्यपि उनकी निन्दा करनेवाले पुस्तके भी लिखते हैं, किन्तु उनसे ज्ञानियो की आत्मा को क्या ? अरे ! कौन किसकी निन्दा करता है ?

प्रत्येक अक्षर अनन्त परमाणुओ से बना हुआ है, वाणी तो परमाणुओ की अवस्था है। वे निन्दा के शब्द तो तुमको यह कहते नही कि तुम द्वेष करो, किन्तु अज्ञानी अपनी विपरीत मान्यता द्वारा 'यह मेरी निन्दा करता है' – ऐसा मानकर अपने भाव में द्वेष करता करता है, किन्तु ज्ञानी को राग-द्वेष करने का भाव ही नही होता तो फिर अन्य कौन राग-द्वेष करा सकता है ? ज्ञानी परवस्तु द्वारा राग-द्वेष -मोह होना नही मानता, अपनी निर्बलता से उन्हें अल्प राग-द्वेष होता है, लेकिन यह गौण बात है।

ज्ञानी जानता है कि निन्दात्मक शब्दो के जड रजकण पुस्तक रूप होनेवाले हो तो उनको कोई भी शक्ति नही रोक सकती – ऐसा जाननेवाले चाहे कितने ही परिषह आओ, वे क्षमा ही रखते है। 'ज्ञाता रहूँ' – यह मेरा सहज स्वरूप है। समतारूप की स्थिरता बढाने की उत्तम कसौटी का यह समय है। सामनेवाले जीव मुझे दु ख देने में निमित्त होते है – ऐसा विचारकर वह उनसे द्वेष न करे, किन्तु

उनकी अज्ञान-दशा देखकर करुणा करे। जो किसी के प्रति द्वेष या क्रोध नहीं करता, वही ऐसा समता रखता है।

जीव जवतक परवस्तु में कर्तृत्व-ममत्व मानता है और पर से भिन्नत्व नही समझता, तबतक वह उसमे कर्त्तापने का अभिमान और राग-द्वेष करता है तथा पर का कर्त्ता-भोक्ता हूँ – ऐसी कल्पना करता है। अन्य किसी को इच्छानुकूल परिणमित कराना चाहे तो परसम्बन्धी विचारा हुआ यथेच्छ कभी होता नही और विपरीत मान्यता से राग-द्वेष दूर नही होते। इसलिए सर्वप्रथम निज-पर स्वरूप को जानो; उसका अभ्यास, अध्ययन, श्रवण, मनन करो। भाई! सच्ची समझ विना मान्यता विपरीत है।

लोग ऐसा सोचते है कि यह मेरा लडका है, मेरा भाई है – यह ऐसा अहित कैसे कर सकता है? किन्तु भाई! ससार का ऐसा ही नियम है। यह कोई नवीन बात नही है और अपना दु ख हटाने का सच्चा उपाय एकमात्र आत्मज्ञान है। लोक मे वाहरी वस्तु को इष्ट मानकर उसे स्थिर रखने के लिए यह जीव कितना अधिक सावधान रहता है तो फिर जिसे सच्चे हित (आत्मस्वरूप) की प्राप्ति हुई है, वह उस सच्चे हित मे किसी भी प्रकार का विघ्न कैसे आने देगा अर्थात् नही ही आने देगा।

अकपायदृष्टि द्वारा कषाय दूर करने की यह भावना है। चाहे जितने प्रतिकूल प्रसग उपस्थित हो, किन्तु उनके उपस्थित करनेवालो के प्रति क्रोध नही आता, मै तो अपने क्षमास्वभावरूप हूँ। बाह्य निमित्तो को दूर करना नही है, क्योकि दूर करने से वे दूर नही होते, किन्तु उनके सम्बन्ध का निर्दोष ज्ञान करना है। निमित्तो को दूर करने की किसी की सामर्थ्य नही है, किन्तु क्षमा बनाये रखना – यह अपने पुरुषार्थ के आधीन है। अज्ञानी पर-निमित्तो को दूर करना चाहता है, किन्तु उनका दूर होना जीव के आधीन नही है। कोई पर मे पुरुषार्थ नही कर सकता और उससे कभी शान्ति भी नही मिल सकती। धर्मात्मा निमित्त का लक्ष्य नही करता। स्वय ही समताभाव, क्षमा-स्वभाव को धारण करता है।

विरोधी जीव को क्रोध व द्वेष करने से रोकना, इस जीव के सामर्थ्य की वात नही है, किन्तु अपने में – सहज-स्वभाव में समता रखना, यह उसकी स्वसत्ता की वात है। अरे! घाणी मे पेल दे तो भी अशरीरीभाव बनाये रखने की यह वात है, उत्कृष्ट साधकदशा की यह भावना है, इसलिए उत्कृष्ट परिषह की यहाँ वात की है। यह सहज वीतरागदशा की भावना है। निर्ग्रन्थ मुनिदशा मे निरन्तर आत्म-समाधि जव लगती है, तव वाहर क्या होता है, इसकी उसे सुध भी नही रहती। 'कौन बोले? कौन सुने? कौन समझावे?' – ऐसी तटस्थ वीतराग भावना आत्मा के सच्चे स्वरूप की पहचान करने से होती है।

परनिमित्तो को दूर करना, रखना या उनमे मेल-मिलाप करना या परिवर्तन करना चेतन के अधिकार की वात नही है। उसको ऐसा निर्णय कर एकवार अपने सच्चे अभिप्राय की स्वीकारता तो देनी चाहिये। आत्मा की स्वाधीनता को स्वीकार कर मजवूती लाने से राग-द्वेष करने का उपाधिभाव (वन्धभाव) पूर्णतया उड जाता है। जो कार्य आत्मा के हाथ मे है और करनेयोग्य है, उसे ही करना ज्ञानी का आशय है। अज्ञानी वाह्य सयोगो को दूर करना चाहता है और उनसे राग-द्वप-मोह करता है, किन्तु सम्यग्ज्ञानी धर्मात्मा मानता है कि अपने आश्रित मात्र ज्ञान-परिणमन है। वह उसके ज्ञान-परिणमन के द्वारा ममता-स्वभाव में परिणमता है, इसलिए वह सहज ही राग द्वेष, विपय-कपायो को जीतता है।

कभी घोर असाता के उदय मे (जैसे शरीर को घाणी में पेल देने के) घोर उपसर्ग आवे, तो भी ज्ञानी उस ज्ञेय का राग द्वेष रहित ज्ञान करता है। वह उसे जानता अवश्य है, किन्तु वह जानने म अटकता नही, जो परमाणु अलग हो जाते है, वह उनका ज्ञानमात्र करता है। जिसे आत्मा की श्रद्धा है, वह उत्कृष्ट प्रतिकूल प्रसगो मे भी खेद नही करता, अतरग मे क्षोभ नही करता – ऐसी उसके ज्ञान की दृढता होती है। जबतक वह गृहस्थ-अवस्था में है तथा पुरुषार्थ मे निर्बल है, तबतक ज्ञानी होते हुए भी उसे थोडी अस्थिरता हो

जाती है, किन्तु अभिप्राय मे यह अशरीरी वीतराग भाव का लक्ष्य रखता है और उसे प्रगट करने की भावना करता है ।

पहले महान् मुनिवर हो चुके है, वे चाहे जितने उग्र परिषह मे भी अपूर्व समता-समाधि भाव की सहज शान्ति मे झूलते हुए ज्ञान की रमणता में स्थिर रहे है । 'देह पेली जाती है' – ऐसे विकल्प को भी छोडकर उन्होने अपने में ज्ञानघन वीतरागदशा बनाये रखीं । जिसमें राग-द्वेष के विकल्पो का प्रवेश न हो – ऐसी अपूर्व साधक-दशा शीघ्र आवे, ऐसी भावना ही वह हमेशा रखते है ।

ऐसा धर्मात्मा शरीर की अवस्था मे था या आत्मा मे ? स्वरूप की यथार्थ जागृति के भान द्वारा आत्मा की अपूर्वता का यह सदेश है । अतरग में आत्मबल द्वारा स्थिरता रखने और वीतराग-स्वभाव को सिद्ध कर उसी रूप होने की भावना यहाँ की गई है । इसी भावना का करनेवाले के निःशक अभिप्राय मे अपने आगे के भव का अभाव दिखता है ।

'गृहस्थ-दशा मे भी दृढतर सम्यक्त्व हो सकता है' – इस बात का परिचय कोई करे तो समझ मे आवे । लोगो का बाह्यसयोग की सावधानी की ओर लक्ष्य रहता है कि ऐसा सयोग होना चाहिए और ऐसा नही, किन्तु ज्ञानी का ऐसा अभिप्राय नही होता, वह अनुकूल-प्रतिकूल सयोगो में राग या द्वेप नही करता । यहाँ अशरीरी, अतीन्द्रिय, ज्ञान-आनन्दमय भाव की महिमा बताई है – 'धन्य है वे मुनिवर जो समभावी रहे ।' जिसके अतरग मे उत्कृष्ट साधकदशा की रुचि यथार्थरूप से जमी हो – उसकी ऐसी ही भावना होती है ।

वन्दे चक्री तथापि न मळे मान जो – छह खण्ड का अधिपति चक्रवर्ती महावैभवशाली होता है, उसकी हजारो देव सेवा करते है, वह ४८ हजार पाटण, ७२ हजार नगर, ९६ करोड पदातियो का स्वामी होता है ।

ऐसा राजा वर्तमान मे महाविदेह क्षेत्र मे विद्यमान है, वहाँ सनातन जैन निर्ग्रन्थ मुनिधर्म हमेशा रहता है । चक्रवर्ती सम्राट अपने

विशाल वैभव के साथ मुनि की वन्दना करने के लिए आता है और परम विनय-वन्दनापूर्वक उनकी स्तुति करता है – "हे मुनिराज ! आप वहुत ही पवित्र अवस्था मे है" किन्तु मुनि को इससे मान का अश भी नही होता।

'जिसको जो रुचता है, वह वही करता है।' – इस न्याय के अनुसार गुण का आदर करनेवाले को गुण रुचते हैं। वह गुण की रुचि उसके अपने ही कारण से है, और यदि कभी निन्दा करनेवाले को मुनि मे दोष दिखाई पडे तो वह दोष भी उसी के कारण से है, इसलिए मुनि को पर के सम्बन्ध मे कोई विकल्प नही उठता। जो चैतन्य-आनन्दमूर्ति भगवान आत्मा मे, अपनी ज्ञानानन्द की सहज समता मे महासुख मानकर पूर्ण स्थिरता मे, एकाग्रता मे स्थित है – उसे स्व-स्वरूप से बाहर निकलना कैसे रुचे ? अर्थात् नही रुचे।

मुनि अवस्था मे जो पवित्र दशा प्रत्यक्ष प्रगट होती है, उस उत्कृष्ट साधकदशा के प्रति इस गाथा में आदर व्यक्त किया गया है। वह दशा अपने में वर्तमान मे नही है, इसलिए उसके प्रति अपनी रुचि व्यक्त कि गई है, लेकिन अपने में कुछ पात्रता है और उस दशा के प्रति आदर है, इसलिए पूर्णता के लक्ष्य से यह भावना की गई है। जिसे यथार्थ स्वरूप की पहचान है – ऐसा सम्यग्दृष्टि ही ऐसी भावना कर सकता है।

लही भव्यता मोटू मान, कवण अभव्य त्रिभुवन अपमान – तीर्थंकरदेव सर्वज्ञ भगवान की धर्म-सभा में किसी जीव के लिए यह ध्वनित हो कि 'वह भव्य है' तो इसके समान जगत् मे दूसरा क्या सम्मान होगा ? किसी जीव के लिए सहज वाणी मे आया कि 'यह जीव अपात्र है' तो जगत् में उससे अधिक भारी अपमान और क्या समझना चाहिए ? साक्षात् सर्वज्ञ भगवान की वाणी किसी जीव-विशेष को लक्ष्य कर कहे कि 'यह जीव सुपात्र है' तो जगत् मे इससे अधिक भारी सम्मान और क्या ?

जब गौतम स्वामी समवशरण (धर्मसभा) मे प्रविष्ट हुए और मानस्तम्भ पारकर प्रभु (महावीर स्वामी) के सम्मुख गए, तभी प्रभु की

दिव्यध्वनि हुई कि 'अहो ! गौतम भव्य है' – ऐसी साक्षात् दिव्यध्वनि मे प्रथम स्थान गौतम को ही मिला ।

महावीर तीर्थंकर भगवान को केवलज्ञान प्रगट होने पर भी ६६ दिन तक उनकी वाणी नही खिरी । सर्वज्ञ भगवान तो वीतराग हैं, उनके इच्छा नही होती, किन्तु भाषा-रजकणो का प्राकृतिक योग ही ऐसा होता है कि लोकोत्तर पुण्यवान गणधर-पदवी पाने योग्य जीव का उपादान जबतक प्रभु के सन्मुख नही होता, तबतक तीर्थंकर भगवान की वाणी दूसरे को निमित्त नही होती ।

सौ इन्द्र, लाखो देव आदि असख्यात प्राणी भगवान के दर्शन व वाणी सुनने के लिए आए, इन्द्र ने भी भगवान की भक्ति की, किन्तु ६६ दिन तक भगवान की वाणी नही खिरी और गौतम के सम्मुख आते ही दिव्यध्वनि व्यक्त हुई, उससमय भी गौतम को अपने बडप्पन का अभिमान नही हुआ, किन्तु वह प्रभु के सम्मुख दीनता एव नम्रता से विनयपूर्वक झुक गया, मुनिपद की प्रतिज्ञा कर ध्यान मे लीन हो गया और तुरन्त ही सातवी अप्रमत्त भूमिका, निर्विकल्प दशा हुई और चौथा मन पर्यय ज्ञान प्रगट हुआ और उन्हे गणधरदेव की पदवी मिली ।

साक्षात् सर्वज्ञ परमात्मा के बाद गणधरदेव की पदवी है । ऐसी पदवी पाकर भी गौतम अत्यन्त निर्मानता से कहते है –

"धन्य प्रभु ! आपकी दिव्य वाणी को भी वन्दन करता हूँ, धन्य प्रभु ! आपका वीतराग मार्ग ! क्या पूछूँ ? सब समाधान हो गया । धन्य प्रभु ! आपके अपूर्व उपकारी वचन सुनते ही भव्य जीवो के सम्पूर्ण सन्देह मिट जाते है और वे निरभिमान भाव से आत्मा मे स्थिर हो जाते है । उस अनन्त उपकार का वाणी द्वारा क्या वर्णन करूँ ?"

गणधरदेव की ऐसी उत्कृष्ट साधक दशा है, पाँचवे ज्ञान (केवल) को प्रगट करने का पुरुषार्थ है । ऐसी निर्मानी निर्ग्रन्थ दशा का अपूर्व अवसर मुझे कब मिलेगा ? ऐसी भावना यहाँ भायी गई है ।

मोक्षमार्ग प्रगट करनेवाला यह निर्ग्रन्थ-मार्ग ही है, अन्य मार्ग नही। चक्रवर्ती राजा मुनि का बहुत सम्मान करते है, हजारो का जनसमूह, अनेक राजा-महाराजा सपरिवार आकर उनका दर्शन करते है, किन्तु मुनि को इससे अभिमान नही होता, क्योकि वे जानते है कि आत्मा का सम्मान शब्द या विकल्प से नही होता, वह तो अपने भाव का फल है। कोई निन्दा या स्तुति करे तो वह नामकर्म की प्रकृति है, उससे उन्हे कोई हानि-लाभ नही है – ऐसा माननेवाले मुनिवर धन्य है।

देह जाय पण माया थाय न रोममां – साधक दशावाले मुनि पूर्ण शुद्धता के पुरुषार्थ मे लीन रहते है। उससमय कभी देह-नाश का प्रसग आवे, कभी घोर परिषह का प्रसग आवे तो भी वे देह के प्रति अशमात्र भी ममता नही करते, पुरुषार्थ की स्थिरता से छूट कर राग-द्वेष मे नही अटकते। जहाँ सरल पुरुषार्थ होता है, उसमें कुटिलता को स्थान नही होता, निराबाध पुरुषार्थ पूर्णता के लक्ष्य मे चालू रहता है। उन्होने पूर्ण केवलज्ञान के ऊपर ही सुनिश्चल दृष्टि डाली है अर्थात वे उसमें अपने पुरुषार्थ को लगाकर सतत, अबाध स्थिरता मे लीन रहते है। इस बीच मे यदि देह-नाश का प्रसग आ जाय तो भी पुरुषार्थ की गति नही बदलती, मोह भाव या माया का अश भी नही आता, कभी भी पुरुषार्थ की वक्र गति नही होती। 'ऐसे वीतराग भाव का पुरुषार्थ जिस काल मे प्रगट करूँगा, वही स्वकाल धन्य है' – ऐसी भावना यहाँ की गई है।

देह-नाश के समय भी मेरा अतीन्द्रिय पुरुषार्थ सतत निराबाध रहो। देह का विकल्प भी नही रहे। कभी घोर उपसर्ग हो तो अपूर्व समाधिमरण (पण्डित मरण) की जागृति बढे, देह जाते हुए मेरे रोम मे भी माया न हो, किसी भी काल मे स्वभाव-परिणति की गति विपरीत न हो – ऐसा अपूर्ण अवसर कब आवेगा ? ऐसी यह भावना है।

लोभ नही छो प्रबल सिद्धि निदान जो – वचन-सिद्धि, अणिमा आदि लब्धि के प्रगट होने पर भी उन्हे उपयोग मे लेने का विकल्प

भी नही आता। नवकोटि-विशुद्ध ब्रह्मचर्य, निष्परिग्रहता, सत्यव्रत, अहिंसा आदि सयम-भावना-गुण, वीतरागता, समता बढने पर महा पुण्यवन्त के ऋद्धियाँ (वचनसिद्धि, अणिमा, महिमा) आदि प्रगट होती है, किन्तु ये ऋद्धियाँ प्रगटी है या नही, यह देखने के लिए मैं अपना उपयोग नही लगाऊँ – ऐसी भावना है।

मेरे मे अनन्त सुख है, मै स्वय आनन्दघन सिद्ध हूँ, इसमे जड पुण्य की लब्धि का विचार किसलिए ? अमृत जैसे उत्तम आहार को खानेवाला मल खाने का विचार भी नही करता, उसीप्रकार मुनि को पूर्ण शुद्ध आत्मा के शिवाय अन्य रागादि करने का विचार नही होता। 'पूर्ण शुद्ध निजपद न प्रगटे, तवतक एक समय भी प्रमाद मे लिप्त होऊँ तो वहुत हानि है' – ऐसा जिसने जान लिया है और पूर्ण होने की दृढतर रुचि जिसकी बढती जाती है, वह अपने पुरुषार्थ को उपाधि मे कैसे लगावे ? नही ही लगावे।

किसी मुनि के थूक या मूत्र मे भी लब्धि होती है, किन्तु वह पुण्य की लब्धि है, इसका आत्मार्थी विचार नही करते। जहाँ पूर्ण निर्लोभ और वीतराग दशा का पुरुषार्थ दृढ है – वहाँ किसी पर-निमित्त मे अटकना नही बनता, विशेप बलदान सिद्धि प्रगट होने पर भी उसके सम्वन्ध मे विकल्प नही हो, ऐसी स्थिरता का अपूर्व स्वसमाधि-योग कब आवेगा ? – ऐसी यह भावना है ॥८॥

भव मे डूबे सोय

लहा स्वरूप न वृत्ति का, किया व्रत अभिमान।
ग्रहे नहीं परमार्थ को, कारण लौकिक मान ॥२८॥

अथवा निश्चयनय ग्रहे, मात्र शब्द के माहि।
लोपे सद् व्यवहार को, साधन रहित रहाहिं ॥२९॥

ज्ञानदशा पायी नहीं, साधनदशा न कोय।
जो संगति उनकी लहे, भव में डूबे सोय ॥३०॥

– श्रीमद् राजचन्द्र : आत्मसिद्धि शास्त्र

छन्द ९

नग्नभाव मुंडभाव सह अस्नानता,
अदंतधोवन आदि परम प्रसिद्ध जो;
केश रोम नख के अंगे शृंगार नहीं,
द्रव्यभाव संयममय निर्ग्रन्थ सिद्ध जो।
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ।।९।।

हिन्दी पद्यानुवाद

नग्न दिगम्बर मुण्डभाव अस्नानता,
अदन्त धोवन आदि महान प्रसिद्ध है;
केश रोम नख आदि अङ्ग शृङ्गारना,
द्रव्य-भाव सयममय मुनि ज्यो सिद्ध है।
अपूर्व अवसर ऐसा कब मेरे आएगा ।।९।।

छन्द ९ पर प्रवचन

'वह अपूर्व अवसर धन्य है, जब देह सयम के लिए ही हो, वह नग्न रहे अर्थात् वस्त्र-सहित नही हो, द्रव्य और भाव दोनो से नग्न (निर्ग्रन्थ) हो, अन्तरग मे देहादि की आसक्ति का अभाव – अनासक्ति और वाह्य मे प्राकृतिक दिगम्वर देह। जब देह के प्रति राग नही, तो राग का निमित्त वस्त्र भी नही होना चाहिये। जिसे शरीर की कुशलता के प्रति आसक्ति का भाव नही है, जो अशरीरी भाव में रहता है – ऐसे मुनि के देह सयम हेतु ही होती है।'

२६ वे वर्ष मे श्रीमद ने ऐसी ही भावना भायी थी। तीन कपाय के अभावरूपी राग दूर होते ही वाह्य कृत्रिमता भी दूर हो जाती है। सर्वप्रथम दृष्टि मे से देह के प्रति ममत्वभाव दूर होना चाहिये। वाह्य-अभ्यतर नग्नभाव निर्ग्रन्थता की ही भावना वढाता है। अविकारी चैतन्यस्वरूप के भीतर न पुण्य-पाप है, न अस्थिरता और न वाह्य में

वस्त्र । ऐसी साधकदशा हुए बिना मोक्षदशा प्रगट नही होती । यहाँ आसक्ति का सर्वथा निरोध करने का दृढतर अभिप्राय प्रगट होता है ।

१२ वी गाथा तक मुनित्व की भावना की गई है और कहा गया है कि मेरे पूर्ण स्वरूप मे स्थिर रहने का उत्साह (स्वरूप मे सावधानी) रहे, उसमे जरा भी असावधानी (प्रमाद) न हो ।

साधक को प्रतिकूलता की अग्निरूप वासना मे जलना नही है और अनुकूलता की बरफरूपी आशा मे गलना नही है, मात्र अन्तरग मे परम उदासीनता होनी चाहिए । ध्याता-ध्यान-ध्येय का विकल्प छूटकर पूर्ण स्थिरता रहे – ऐसी दशा कब आवेगी ? यही भावना है ।

'मुण्डभाव' अर्थात् मस्तक, दाढी आदि के केश बढाना नही तथा छुरे इत्यादि से बाल नही कटवाना, किन्तु हाथो से केश उखाडने (केशलुचन) को यहाँ मुण्डभाव कहा है ।

जब सम्यक्चारित्र की दशा होती है, तब देह की आसक्ति का खास अभाव होता है, वहाँ बाह्य मे मुण्डन भी हो ही जाता है – ऐसा ही दोनो का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है । पाँच इन्द्रिय के विषयो और चार कषायो का त्याग और केशलुचन – यह दश प्रकार का मुण्डन है । स्वरुचि के बल द्वारा पाँच इन्द्रियो के विषय-सम्बन्धी राग-द्वेष-मोह की रुचि को नष्ट कर देने के बाद क्रोध, मान, माया लोभ का त्याग होना है । जहाँ निर्ग्रन्थ साधकदशा होगी, वहाँ बाह्य मे केशलुचनरूप नैमित्तिक कार्य भी अवश्य होगा – एसा नियम है ।

किन्तु यह काल की महिमा है कि वीतरागमार्ग से विपरीत वेषधारी साधु जगत् में प्रगट हुए और कहने लगे कि – "उस्तरे से बाल कटाओ, स्नान करो, वस्त्र पहनो इत्यादि ।" किन्तु भाई रे ! जो सनातन निर्ग्रन्थ मुनिधर्म है, उसमे अपनी बुद्धि से अन्य विपरीत कथन करना या मिला देना केवलज्ञानी की कथनी से प्रतिकूल है । अपने से वैसा पुरुषार्थ न हो सके – यह बात अलग है और मान्यता ही विपरीत कर देना – यह अलग बात है । यह त्रैकालिक नियम है कि मुनिधर्म निर्ग्रन्थ ही होता है । बाह्य मे वस्त्रादि परिग्रह से रहित

और अभ्यतर मे मिथ्यात्व, रागादि कषाय से रहित नग्नत्व – इसप्रकार द्रव्य और भाव दोनों से अनासक्ति हो, यही त्रैकालिक मार्ग है। किसी प्रकार के शस्त्र या अस्त्र बिना हाथ द्वारा ही केश का लोच करने का व्यवहार है, बाह्य निमित्त ऐसा ही होता है। त्रिकाल सर्वज्ञ के शासन की एक ही विधि है, उसमें अन्य मार्ग कैसे हो सकता है ?

अभिप्राय मे भूल होने से सारे तत्त्व की हानि हो जाती है। नव तत्त्व क्या है ? मोक्षमार्ग क्या है ? इसकी श्रद्धा बिना साधक आगे बढ सकता है – ऐसा कोई माने तो वह अपने को अनन्त ज्ञानियो से अधिक मानता है। यदि कोई अपने वीतरागमार्ग-मुनिधर्म में नही रह सकता हो तो वह स्पष्ट कहे कि मै इस मार्ग मे नही रह सकता। जिनशासन का धर्म तो यही वीतरागमार्ग है। जो इसकी सच्ची प्ररूपणा करता है, वह अविरोध मार्ग को बनाए रखता है और जो अपने मनमाने अभिप्राय जिनशासन-धर्म के विरुद्ध प्रगट करता है, वह सर्वज्ञ वीतराग कथित मोक्षमार्ग का विरोध करता है, अथवा स्वय अपना ही विरोध करता है।

अनन्त ज्ञानियो ने जिस न्याय को कहा है, उस न्याय का विचार किए बिना कोई उसमे विपरीत अनुमान करे तो करो, किन्तु उससे सच्चे मार्ग को कोई बाधा नही आती। लोगो को शरीर के प्रति बहुत ममता है, इसलिये अपनी बुराईयो को छिपाने के लियें कुतर्क करते हुए कहते है कि वस्त्र तो मुनि की शीत-उष्ण से रक्षा करते है, अत वस्त्र सयम के साधक है, इसलिए इस काल मे वस्त्रसहित ही मुनि होना चाहिये, किन्तु जो मार्ग जिनेन्द्रदेव ने कहा है, उसकी प्रतीति-स्वरूप तो यही नग्न निर्ग्रन्थ साधकदशा है, उसके बिना मोक्षमार्ग नही है। चाहे स्वय कोई मुनिधर्म मे न रह सके, किन्तु सर्वज्ञ-वीतराग-मार्ग की श्रद्धा और न्याय मे अन्यथापन नही करना। उक्त प्रकार की साधकदशा ही मोक्ष का कारण है। पूर्ण शुद्ध आनन्दघन आत्मा को प्रगट करने का मार्ग तीनो काल यही है, अन्य नही।

प्रश्न :– देश-काल के कारण उसमे कुछ परिवर्तन नही हो सकता क्या ?

उत्तर – नही, क्योकि कहा है :–

✓ 'एक होय तीन काल में, परमारथ का पन्थ ।'[1]

'मै पूर्ण शुद्ध हूँ' – यह निश्चय (परमार्थ) है और राग-द्वेष दूर कर स्थिर होने का पुरुषार्थ ही ज्ञान की क्रिया का व्यवहार है। जब अन्तरग मे विरक्ति होती है, तब बाह्य निमित्त भी तदनुकूल होते है। परम उपशम भाव (वैराग्य भाव) वाले जीव का शरीर भी स्नानादि-सम्काररहित रूखा एव विरक्त होता है, यह प्राकृतिक निमित्त-नैमित्तिक योग है।

तीनो काल मे परमार्थ का एक ही मार्ग होता है। पहले भी घी, गुड, और आटा की सुखडी (एक गुजराती मिठाई) बनाते थे, आज भी उन्ही तीन वस्तुओ से सुखडी बनाते है, किन्तु उनकी जगह मे पेशाव, मिट्टी और बालू की सुखडी कोई नही बनाता। पूर्वकाल मे जिसप्रकार से जैसी सुखडी होती थी, उसीप्रकार से तीनो काल मे होती है। हाँ, पुराने घी, गुड और आटा का रस करने मे मिठास सहज ही घट जाती है, किन्तु उसकी जाति तो वैसी ही बनी रहती है। कोई इससे विपरीत कहे या माने तो जैसे वह मिथ्या है, उसीप्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और रागरहित ज्ञान की स्थिरता, रमणतारूप वीतरागचारित्ररूप मोक्षमार्ग त्रिकाल अबाधित एव सनातन है।

वीतराग दशावाले साधक मुनि का दिगम्बर स्वरूप एव भेष तीनो काल मे एक ही प्रकार का होता है, उसको कोई अन्यरूप बताए तो वह मिथ्या है। २४६७ वर्ष पूर्व भी इस भरतक्षेत्र मे मुनिधर्म ऐसा ही था, उससमय हजारो मुनियो के सघ थे। उससमय साक्षात् शुद्ध चिदानन्द, आनन्दघन, चैतन्यमूर्ति, ज्ञानपुज भगवान् तीर्थंकरदेव सर्वज्ञप्रभु इसी क्षेत्र मे विराजमान थे। उनके कितने ही वर्षो बाद १२ वर्षीय दुष्काल में वीतराग धर्म के नाम पर शिथिलाचारी धर्म चला, यह अवसर्पिणी काल की महिमा है।

---

1 श्रीमद् राजचन्द्र : आत्मसिद्धि शास्त्र, छन्द ८६

इस काल का आकार सर्पवत् है । सर्प का शरीर मुंह की तरफ पुष्ट मोटा होता है, तथा पूछ की तरफ पतला होता जाता है, उसीप्रकार अवसर्पिणी मे प्रथम धर्म का उन्नत काल होता है, किन्तु काल की वृद्धि के साथ-साथ उसमे धर्म का ह्रास होता जाता है, किन्तु सर्वथा अभाव नही होता । वर्तमान पञ्चम काल के अन्त तक चैतन्यशक्ति के विकास करनेवालो की सख्या घटती जायेगी, किन्तु सर्वथा अभाव नही होगा । यदि कोई गृहस्थ हो तो पुरुषार्थ की मदता हो सकती है, किन्तु श्रद्धा अर्थात् सच्चे अभिप्राय की अपेक्षा मुनि तथा गृहस्थ म अन्तर नही होता, दोनो को एक ही सनातन निर्ग्रन्थ मार्ग की श्रद्धा होती है ।

कोई कहे कि जिसप्रकार द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव बदलता है, उसीप्रकार धर्म भी बदलता है तो यह बात झूठी है । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता ही मोक्षमार्ग है । स्वच्छन्दवृत्ति को कोई माने तो यह न्याय नही है, किन्तु कुतर्क एव विपरीतता है । निर्ग्रन्थ मुनिधर्म कोई न पाल सके तो अपने को गृहस्थ-पद मे माने, गृहस्थ रहे, किन्तु अभिप्राय मे (श्रद्धा में) उल्टी मान्यता एव विपरीत प्ररूपणा न करे । अपने को वीतराग का मार्ग समझ मे न आवे या न रुचे तो इससे सनातन मार्ग को शिथिल नही बना लेना चाहिये ।

जैनधर्मानुसार तीनो कालों में नग्न दिगम्बर निर्ग्रन्थ-दशायुक्त साधक-अवस्थारूप मुनिमार्ग ही केवलज्ञान प्रगट करने का एकमात्र उपाय है । वर्तमान काल में पच महाविदेह-क्षेत्र मे तो अन्य मार्ग है ही नहीं और इस क्षेत्र मे भी मोक्षमार्ग के बन्द या मन्द हो जाने से कोई मूल जैनधर्म को अन्य प्रकार कहे तो उसकी बात ठीक नही । सनातन मार्ग से विपरीत मानने में अपना ही भारी अहित है ।

यहाँ 'मुण्डभाव' का अर्थ मस्तक के बालो को हाथ से उत्पाटन करना है । भाव मे शुद्धता यह 'लोच' का निश्चय अर्थ है । 'मै ज्ञानानन्द पवित्र शुद्ध वीतरागी हूँ' — ऐसी श्रद्धा, स्वानुभव (स्वसन्मुखता) के बल द्वारा आत्मा मे विशेष स्थिरता होने से विशेष निर्विकार भाव उत्पन्न होता है, तब सहज ही बाह्य-अभ्यतर निर्ग्रन्थपना होता है ।

नग्नभाव, मुण्डभाव सह अस्नानता – मुनि अपने शरीर को जल से साफ नही करते। सन्त-मुनियो का मार्ग अस्नानवाला ही है। वीतरागदशा का साधक जैनमुनि गीले वस्त्र से भी शरीर को साफ नहीं करता। स्नान, शृंगार मे गिना जाता है और शृंगार, मुनिदशा मे नहीं होता। अब कोई लोग कहने लगे हैं कि थोडे से पानी से स्नान करना ठीक है, पर ऐसा करना अनुचित है।

यथार्थ तत्त्वदृष्टि से, न्यायपूर्वक मुनि का मार्ग तीनो काल मे नग्न ही होता है, उसमे कोई अपवाद, शिथिलता या विपरीतता नहीं होती। लोकोत्तर मार्ग और अतीन्द्रिय साधकदशा में पुरुषार्थ की हद क्या है? आतरिक अनुभव बिना उस पुरुपार्थ का महत्त्व ठीक वैसे ही समझ मे नहीं आता, जैसे विषयसेवी को ब्रह्मचर्य का महत्त्व समझ मे नही आता।

विषय-कषाय का कीडा प्रतिदिन शरीर को धोकर अच्छे वस्त्र पहनता है, जबकि वीतराग दशा को साधनेवाला ब्रह्मचारी मुनि जीवनपर्यन्त स्नान नहीं करता। निर्दोप मुद्रावाला मुनि बाह्य और अभ्यतर मे सुन्दर और पवित्र है। मुनि के रूखे विरागी शरीर को देखते हुए भी 'वह महान् पवित्रता की निधि है' – ऐसी उसकी सौम्य मुखमुद्रा कहती है। स्नान करने का विकल्प भी उसके नही होता। मृतक शरीर की शोभा क्या? मल के ढेर के ऊपर शोभा करने की कोई इच्छा नहीं करता, उसीप्रकार मुनि को शरीर की शोभा करने की इच्छा नही होती। साधारण बुद्धिवालो को यह बात समझना असम्भव-सा है।

जैनधर्म लोकोत्तर मार्ग है, वह परिचय किये बिना समझ में नही आता। समझे बिना कुतर्क से पार नही पडता। छह खण्ड के स्वामी चक्रवर्ती को भी राज्य छोडकर नग्न मुनि होकर ही विहार करना पड़ता है। वह देहादि की ममता छोडकर वीतराग समाधि में स्थिर, चैतन्यमय ज्ञानपिण्ड के सहज आनन्द मे लीन हो जाता है, ज्ञान-ध्यान-वीतरागता मे मस्त रहता है, उसके क्षण-क्षण में छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान पलटता रहता है। सातवे गुणस्थान में ध्याता, ध्यान

और ध्येय का विकल्प छूटकर परम समता-समाधि मे स्थिर होकर वह प्रस्तर की मूर्ति-जैसा हो जाता है। जैसे तपाए हुए शुद्ध सुवर्ण का ताजा लहलहाता ढेला ही पडा हो। तथा जैसे गम्भीर महासागर मे मध्यविन्दु से लहरे उछलती हैं, वैसे ही एकाग्रता में – स्वरूपलीनता मे उसके उग्र पुरुषार्थ उछलता है, जिससे ऐसा भासित होता है कि उसने केवलज्ञान प्राप्त करने की तैयारी कर ली हो। ऐसी उत्कृष्ट दशा कैसी होगी, इसका विचार करना चाहिये।

जैसे समुद्र मे लहर समुद्र के अन्दर के मध्यविन्दु से ही आती है, वैसे ही चैतन्य भगवान आत्मा ज्ञान-समुद्र है, उसे किसी बाह्य सहायता की आवश्यकता नही, किन्तु अन्तर मे से ही पुरुषार्थ प्रगट होता है। साधक ऐसी अप्रमत्त भूमिका मे अपूर्व पुरुषार्थ-सहित अपने स्वरूप के उत्साह मे स्थिरता का उग्र प्रवर्तन करता है। वह अवस्था सहज सानन्द-दशा है, जिसमे अनन्तगुणी शुद्धि स्वय वढ जाती है। हमे उस दशा को देखना चाहिये या बाह्य निमित्तो को? देहाध्यास मे रहित आत्मा का जो निर्ग्रन्थ मुनिमार्ग है, वही त्रिकाल वस्तुस्थिति है। साधारण बुद्धिवाले जीवो को लगता है कि यह तो प्राचीन युग की बाते है। परम पवित्र पुरुषार्थ इसी वीतराग साधकदशा की भूमिका मे कैसे होता है, इसके गभीर आशय समझने की पात्रता होने पर जीव उसके बाह्य-अभ्यतर दोनो पहलुओ को विरोधरहित समझ लेता है।

जमाना वदला और स्वच्छन्दी लोग वीतराग-मार्ग को विपरीत मानने लगे। जैसे-जैसे लोगो में आराम-परस्ती और देह की ममता वढती गई, वैसे-वैसे वीतराग जिनशासन के नाम पर स्वच्छन्द शिथिलाचार पनपा और उसका समर्थन करने के लिए मुनि-अवस्था मे वस्त्र-पात्र आदि के परिग्रह का विस्तार हुआ। इसप्रकार मुनिधर्म को भी गृहस्थधर्म जैसा ही मान लिया गया। भगवान महावीर के निर्वाण के १६२ साल पश्चात् १२ वर्ष का दीर्घकालीन अकाल पडा, तव शिथिलाचार तथा मतभेद होने से दो पक्ष हो गए।

यदि पक्षपात की बुद्धि छोडकर मध्यस्थ भाव से तत्त्व का विचार किया जाय तो वस्तुस्थिति शीघ्र ही समझ में आ जाती है।

अन्य सभी पक्षो को छोडकर यथार्थ वीतरागस्वरूप की श्रद्धा की जावे तो मुनिधर्म-दिगम्बरस्वरूप कैसा हो, वह जल्दी समझ मे आ सकता है। दिगम्बर मुनि महावैराग्यस्वरूप उपशम-समता आदि गुणो से विभूषित रहते हैं।

जैसे अगारे पर राख हो तो भले ही ऊपर से राख ही दिखाई पडे, किन्तु अन्दर अग्नि प्रज्वलित रहती है, वैसे ही ज्ञानी का शरीर भले ही रूखा – असुहावना लगे, किन्तु अन्तरग मे महापवित्र, शान्ति-आनन्द का अनुभवस्वरूप चैतन्यमय निराकुलता का सुख रहता है। ये ज्ञानी मुनिस्वरूप की समाधि मे लीन रहते हुए चैतन्यज्योति का अनुभव करते हुए अत्यन्त पवित्र, उज्ज्वल, शात एव वीतरागी होते हैं। उनके बारम्बार छठवे-सातवे गुणस्थान का उतार-चढाव चलता रहता है। सम्पूर्ण वीतरागता की साधना ही अपूर्व मुनि-अवस्था है। अन्तरग-बहिरंग निर्ग्रन्थ मार्ग द्वारा ही केवलज्ञान-प्राप्ति का प्रयोग चलता रहता है।

कोई कहे कि मोक्ष तो आत्मा का होता है, उसका वस्त्र-त्याग से क्या सम्बन्ध? चाहे जिस वेष मे मुनिधर्म हो, इसमें क्या बाधा है? ऐसे कुतर्की को यह ज्ञात नहीं है कि छठवे-सातवे गुणस्थान की वीतरागदशा, (साधक मुनिमार्ग की स्थिति) उग्र पुरुषार्थमय उपादान की तैयारीस्वरूप और वैराग्यरूप होती है, उसकी उसे समझ नहीं है, इसलिए वह ऐसी अन्यथा कल्पना करता है।

यदि कोई कहे कि हम शरीर की शोभा, लज्जा, नीरोगता आदि विषय-कषाय के पोषण करने के लिए वस्त्र नहीं रखते, अपितु सयम के परिपालनार्थ ही वस्त्र-पात्र रखते हैं तो उन्हे भी निर्ग्रन्थ मार्ग की खबर नहीं है। इस गाथा मे कहा गया है कि मुनि अवस्था मे जीवन-पर्यन्त स्नान नहीं करते। जब मुनि होने की भावना में इतना बल है, तब साक्षात् मुनि-पद में तो चारित्र भी उग्र होता है, वहाँ शरीर के प्रति अणुमात्र भी ममत्व नहीं है, फिर देह की शोभा क्यो? मुर्दे को सजाना, उसका सन्मान करना क्या आवश्यक है?

मुनि के अचेतन ऐसे इस शरीर के प्रति राग नही होता, शरीर तो मृत ही है। ऐसे अचेतन स्वभाववाले देहादि के प्रति मुनि उदासीन होते है। उन्हे देह के प्रति अश मात्र भी राग या आसक्ति नही होती, इसलिए शरीर का शृगार करूँ, उसे अच्छा रखूं, ऐसी इच्छा मुनि कैसे करेगा ? शरीर का स्नान तो मृतक को सजाने जैसा है।

जगत् मे देहादि की व्याधि की आरोग्यता होने मे आनन्द और सुख की कल्पना करते है, किन्तु मुनि अशरीरी ऐसे अतीन्द्रिय चैतन्य मे समाधि द्वारा सहज आनन्द की निराबाध समता का अनुभव करता है। जो वीतराग दशा मे रहते है, वे केवलज्ञान को आमन्त्रण करते हैं। देह रहे या न रहे, ऐसा विकल्प उन्हे नही होता। ऐसी यथार्थ मुनिदशा की भावना कौन नही भावे ? श्रीमदजी ने अपने को जैसी स्थिति प्रगट करना है, वैसी ही भावना की है। इसप्रकार उन्होने वर्तमान मे मुनित्व की तैयारी कर रखी थी। इसलिए एक भव के बाद साक्षात् सर्वज्ञ, तीर्थंकर आदि किसी महापुरुष के पास मुनि-पद धारण करेगे और जिनाज्ञा का आराधन करते हुए स्वरूप-स्थिरता द्वारा अपने स्वरूपमोक्ष को प्राप्त करनेवाले होगे। वे इस निर्ग्रन्थदशा द्वारा जिनाज्ञा की उपासना करते हुए पूर्णता को प्राप्त होगे।

कहा भी है –

अवश्य कर्मनो भोग जे, भोगवशो अवशेष रे,
तेथी देह एक ज धारि ने, जाशुं स्वरूप स्वदेश रे,
धन्य रे दिवस आ अहो !

सूक्ष्मरूप से अन्तरग परिणामो का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि अभी कुछ कर्म भोगने की योग्यता बाकी है, इसलिए उन्हे क्षय करने के लिए एक भव और धारण करना पडेगा, ऐसी अन्तरग मे प्रतीति करके ही श्रीमद्जी ने ऐसा कहा है। कोई ऐसी अपूर्वता का सन्देश लाओ तो सही ! अहो ! गृहस्थावस्था मे भी अन्तरग में केवल-ज्ञान की झकार मोक्ष की अति निकटता की साक्षी होती है, उसके लिए किसी को पूछने नही जाना पडता।

लोग पक्षपात छोडकर मध्यस्थता एव न्याय से विचारे, तभी ज्ञानी धर्मात्मा के हृदय को पहचान सकते है। 'धन्य रे दिवस आ अहो ! जागी रे शान्ति अपूर्व रे।' यह वाणी आत्मा को स्पर्श करके आई है, इस भावना के बल से सच्चे अभिप्राय का अभ्यास और पुरुषार्थ बढता है।

निर्ग्रन्थ वीतराग मुनिदशा में अदतधोवन, अस्नान, नग्न शरीर, वीतरागता आदि का होना सुप्रसिद्ध है। जिन्हे अपने अपरिमित ज्ञान-स्वरूप मे उत्कृष्ट वीर्य का अटूट विश्वास है, उनका जीवन सहज ही प्रकृतिक होता है। उनके दाँत नही विगडते है, उनमे दुर्गन्ध नही आती है। ऐसे महाब्रह्मचारियो का शरीर शात, सौम्य और परम वैराग्यरूप होता है। वे किसी भी समय छोटा-सा वस्त्र भी नही रखते। 'अदतधोवन' की स्थिति बनी रहती है। उनके नवकोटि-विशुद्ध ब्रह्मचर्य, समिति, गुप्ति, पचमहाव्रत आदि सहज ही होते है।

मुनि को अपने शरीर को सुधारने, सभालने या शृगार करने का भाव नही होता। उनको वीतरागी आचरणमय सयम, ज्ञानस्वरूप की रमणता या एकाग्रता रहती है। अन्तरग-बहिरग परिग्रह से रहित मुनि छठवे-सातवे गुणस्थान मे रहते है। उनके बाह्य या अभ्यतर कृत्रिमता से रहित सहज निर्दोष निग्रन्थदशा रहती है। मुनिपद-अर्थात् निर्ग्रन्थ मार्ग द्वारा केवलज्ञान प्रगट करने के उपाय मे स्थिरतारूप चारित्र ही ज्ञान की क्रिया है।

इस वीतरागस्वरूप साधक की भूमिका मे बाह्य मे नग्न शरीर (निर्ग्रन्थ अवस्था) ही सहज निमित्त हो – यह तीनो काल का नियम है। श्रीमद् राजचन्द्र उस नियम को जानते थे, इसलिए प्रारभ में स्वय ही कहते है –

अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे,
क्यारे थइशु बाह्यातर निर्ग्रन्थ जो;
सर्व सम्बन्धनुं बन्धन तीक्ष्ण छेदीने,
विचरशुं कब महत्पुरुषने पंथ जो।

मात्र शरीर ही संयम का हेतु हो – ऐसी अवस्था महान पुरुष, पूर्ण निष्परिग्रही, नग्न दिगम्बर भावलिंगी मुनि के ही होती है। मुनि-अवस्था मे अन्तरग मे राग-द्वेषादि अज्ञान की ग्रन्थि नहीं होती है। ॥९॥

● ● ●

आत्मार्थी लक्षण

आत्मज्ञान वहाँ मुनिपना, वह सच्चा गुरु होय।
बाकी कुलगुरु कल्पना, आत्मार्थी नहिं होय ॥३४॥

प्रत्यक्ष सद्गुरु प्राप्ति का, गिने परम उपकार।
तीनो योग एकत्व से, वर्ते आज्ञा धार ॥३५॥

एक होय त्रयकाल में, परमारथ का पंथ।
प्रेरक जो परमार्थ का, वह व्यवहार समत ॥३६॥

यो विचार अन्तरग में खोजे सद्गुरु योग।
काम एक आत्मार्थ का, अन्य नहीं मन रोग ॥३७॥

कषाय की उपशान्तता, मात्र मोक्ष अभिलाष।
भव-भीरू-प्राणीदया, तहँ आत्मार्थ निवास ॥३८॥

दशा न ऐसी जहाँ तक, जीव लहे नहिं योग।
मोक्ष-मार्ग पाये नहीं, मिटे न अन्तर रोग ॥३९॥

आवे जब ऐसी दशा, सद्गुरु-बोध सुहाय।
बोध विचारत जीव को, आत्मिक सुख प्रगटाय ॥४०॥

जब प्रगटे सुविचारणा, तब प्रगटे निज ज्ञान।
उस सुज्ञान से मोह-क्षय, पावे पद निर्वाण ॥४१॥

– श्रीमद् राजचन्द्र : आत्मसिद्धि शास्त्र

छन्द १०

शत्रु मित्र प्रत्ये वर्ते समदर्शिता,
मान अमाने वर्ते ते ज स्वभाव जो;
जीवित के मरणे नही न्यूनाधिकता,
भव-मोक्षे पण शुद्ध वर्ते समभाव जो।
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ॥१०॥

हिन्दी पद्यानुवाद

शत्रु-मित्र के प्रति वर्तूं समदर्शिता,
मान-अमान पर न छोड़ूँ स्वय स्वभाव जो;
जन्म-मृत्यु पर हर्ष-शोक कुछ हो नहीं,
बन्ध-मोक्ष के प्रति वर्तूं समभाव को।
अपूर्व अवसर ऐसा कब मेरे आएगा ॥१०॥

छन्द १० पर प्रवचन

इस पद मे मुनिपद के योग्य समताभाव की स्वाभाविक स्थिति बताई गई है। शत्रु या मित्र दोनो की आत्मा शक्तिरूप से सिद्ध भगवान जैसी है, इसलिए मै किस पर राग या द्वेष करूँ। कोई बाँस से पीटनेवाला मिले, वसूला से छेदनेवाला मिले या कोई चन्दन लगानेवाला, किन्तु उनमे से किसी मे भी किसी प्रकार की इष्ट या अनिष्ट की कल्पना नही है – ऐसी स्थिति इस पद मे व्यक्त की गई है।

कोई पूर्व कारण से शत्रु होकर इस शरीर पर उपसर्ग करे तो भी द्वेष नही है, इसलिए मुनि के वीतरागभाव है। कोई मित्र होकर शरीर की पूरी सम्भाल रखे, आदेश सुनते ही अनेक सुख-साधन जुटा दे, बहुत विनय करे – ऐसे मित्र के प्रति भी रागभाव नही है। इसप्रकार शत्रु-मित्र के प्रति भी समभाव है।

इसका यह अभिप्राय नही है कि दुर्जन को सज्जन माना जाय, किन्तु ज्ञान मे यह समझा जावे कि उसकी प्रकृति की मर्यादा ऐसी है।

विष को विप जाने, क्रोधी को क्रोध-प्रकृतिवाला समझे, सज्जन को सज्जन जाने, किन्तु दोनो समान गुणवाले है – ऐसा न माने। जैसा है वैसा ही जाने, किन्तु किसी से हर्ष, शोक या इष्ट-अनिष्टपना नही करे। इसप्रकार दोनो के प्रति समभाव प्राप्त कर आगे उत्कृष्टता धारण करता है कि 'जीवित के मरणे नही न्यूनाधिकता, भव-मोक्षे पण शुद्ध वर्ते समभाव जो'। यहाँ एकधारारूप समताभाव जीवन मे आवे – ऐसा अपूर्व अवसर कब आवे, इसकी भावना की गई है।

'अवसर' शब्द का विश्लेषण है अव+सर, अव=निश्चय, सर=बाण, शुद्धनयरूपी धनुष और शुद्ध उपयोग की तीक्ष्णता के एकाग्रतारूपी बाण द्वारा सभी कर्म-कलको का नाश हो जाय – ऐसा अपूर्व अवसर जल्दी प्राप्त करने की भावना यहाँ की गई है।

देह दीर्घकाल तक रहे या अल्पकाल तक, दोनो समान है। जीवन और मृत्यु – यह पुद्गलो के अनन्त रजकणो की अवस्था है। उनका मिलना, गलना या पृथक् होना पुद्गल के अधीन है, उसे आत्मा नही रख सकता। धर्मात्मा इस देह के छूटने के समय पर अपूर्व पुरुषार्थ से समाधिमरण-पूर्वक शान्ति प्राप्त करता है। जगत् मे जैसे कुत्ता, बकरा, लट आदि पशु मरते है और उनका जीवन व्यर्थ जाता है, उसीप्रकार धर्मरहित मनुष्यादि जीवो का जीवन व्यतीत होता है।

कोई कभी अधिक-पुण्यवाला भी हो तो परमार्थ में उसकी कोई कीमत नही है, किन्तु जिसे यथार्थस्वरूप की प्रतीति है, मात्र जो मोक्षाभिलाषी है और जो स्वरूप के ज्ञान की कीमत जानता है, वही स्वरूप की सावधानी से जागृत सफल जीवन व्यतीत करता है। ज्ञानी धर्मात्मा अकषाय-स्वरूप मे उल्लासवन्त होता हुआ भी आयु पूर्ण होते समय अपूर्व समाधिमरण करने का उत्साह लाता है। देह की आयु का अन्त निकट जानकर उसकी अपूर्व भावना का उल्लास प्रस्फुटित होता है। बेहद श्रद्धा का पुरुषार्थ उसके स्वरूप की एकाग्रता में वर्तता है।

देह का चाहे जो हो, उसकी सभाल कौन रख सकता है? आयु पूरी होनेपर जिस क्षेत्र में, काल में, जिसप्रकार देह छूटना हो, उसीप्रकार छूटना होगा। एकसमय-मात्र की भी देर नही होगी।

आयु का ७ प्रकार से क्षय कहा जाता है, किन्तु वह व्यवहार का कथन है। आयु की स्थिति पूर्ण होने पर ७ कारणो में से कोई एक कारण निमित्तरूप मे होता है – ऐसा नियम बताया है, किन्तु कोई किसी की आयु में कमती-बढती नही कर सकता।

प्रश्न :– तो फिर किसी को मारने मे पाप नही लगेगा, क्योंकि जिलाना या मारना किसी के हाथ की बात नही है।

उत्तर :– कोई किसी के मारने या जिलाने का कार्य नहीं कर सकता, किन्तु जिलाने या मारने का भला-बुरा भाव जीव कर सकता है। जीव या तो ज्ञान करे या अज्ञान करे या पुण्य-पाप के भाव करे। जिलाने का राग पुण्यभाव है और मारने का भाव पापभाव है। मैं पर का कुछ कर सकूं – ऐसा विपरीत भाव अज्ञान है।

ज्ञानी देह के वियोग को प्रत्यक्ष सामने देखता है, इसलिए उसे देह का चाहे जो हो जावे, किन्तु उसके रखने या नहीं रखने की उसे इच्छा नही रहती, क्योंकि देह उसकी आयु की स्थिति अनुसार ही रहेगी, इसलिए ज्ञानी को उसकी चिन्ता नहीं है।

आत्मज्ञानयुक्त पूर्णता के लक्ष्य से स्वरूप-स्थिरता की यह भावना है। शत्रु या मित्र, निन्दक या वन्दक को समान समझने व जीवन मृत्यु तथा ससार-मुक्ति को समान समझने के सम्बन्ध मे 'शांतिजिन-स्तवन' मे कवि ने बताया है :–

> मान-अपमान चित्त सम गणे समगणे कनक-पाषाण रे।
> वन्दक-निन्दक सम गणे ईस्यो होय तू जाण रे॥
> सर्व जगजतुने सम गणे गणे तृण-मणि भाव रे।
> मुक्ति-संसार बेउ सम गणे मुणे भवजलनिधि नाव रे॥
> शांति जिन एक मुज विनती॥टेक॥

शान्ति अर्थात् समतास्वभाव। हे परमात्मा! आपने सिद्धस्वभाव प्रगट किया है। मैं भी आपके-जैसा ही होने योग्य हूँ – यह [illegible] रखकर यहाँ श्रीमद् कहते हैं कि संसार और मुक्ति में भी समान दृष्टि रहे। यहाँ बेहद-समतामय अखण्ड द्रव्यस्वभाव और वीतरागता [illegible]

है। द्रव्य तो अनादि-अनन्त है, इसलिए 'बन्ध' और 'मोक्ष' – ऐसी दो अवस्थारूप भेद की कल्पना में ज्ञानी अटकता नहीं है।

ज्ञानी को भव-संसार के प्रति खेद नहीं। एक-दो भव बाकी हों या भव का अभाव किया हो, उसमें संसारी और मुक्त अवस्था का शोक या हर्ष करने का समय नहीं – ऐसी अप्रमत्त भूमिका लेकर आगे क्षपकश्रेणी में आरूढ़ हो – ऐसा वीतरागभाव (स्वरमय) कब आवेगा, यह भावना यहाँ व्यक्त की है।

सिद्ध-समान सदा पद मेरो – ज्ञानी स्वभाव में तो पूर्ण पवित्र शाश्वत चिद्घन हैं, किन्तु उनके वर्तमान-अवस्था में कमजोरी के कारण अस्थिरता रहती है।

छठवें गुणस्थान में ध्यान-अध्ययन शुभ विकल्प होते हैं, उनमें मोक्ष की इच्छा का विकल्प रहता है, उस विकल्प को भी नष्ट कर ऐसी उत्कृष्ट दृढ़तर स्थिरता–एकाग्रता करूँ कि केवलज्ञान की उत्कृष्ट ग्रंथि उघड़ जावे, ऐसा कहा गया है। उसे पाने की योग्यता या उत्कृष्ट दशावाला समभाव हो, वहाँ मोक्ष-दशा प्रगट होती है।

बन्ध और मोक्ष – ये दो तो आत्मा की अवस्थायें हैं और आत्मा अनादि नित्य है। संसार-पर्याय बन्धनरूप है। शुभ या अशुभ परिणाम भावबन्धरूप अवस्था है, उसके अभाव की अपेक्षा मोक्ष कहा जाता है। संसार और मुक्ति पर्यायदृष्टि से पर-निमित्त की अपेक्षा दो भङ्ग हैं। आत्मा उन दो भङ्ग-जितना नहीं है, क्योंकि आत्मा [illegible] की अपेक्षारहित नित्य एकरूप है। आत्मभानपूर्वक चारित्र-[illegible] टालने के लिए उग्र पुरुषार्थ की भावना से उग्र निर्जरा भाव का [illegible] इस पद में किया गया है।

> दीखे देहाध्यास से, आत्मा देह समान।
> पर वे दोनों भिन्न हैं, जैसे असि और म्यान ॥५०॥
> जो दृष्टा है [illegible]
> अबाध्य-

छन्द ११

एकाकी विचरतो वली श्मशान में,
वली पर्वत में वाघ सिंह संयोग जो;
अडोल आसन ने मन में नहि क्षोभता,
परम मित्रनो जाणे पाम्या योग जो।
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ॥११॥

हिन्दी पद्यानुवाद

एकाकी विचरूँ निर्जन श्मशान में,
वन-पर्वत में मिले सिंह-संयोग जो,
आसन रहे अडोल न मन में क्षोभ हो,
परम मित्र मम जानूँ ऐसे योग को।
अपूर्व अवसर ऐसा कब मेरे आएगा ॥११॥

छन्द ११ पर प्रवचन

गृहस्थाश्रम मे रहते हुए भी श्रीमद् राजचन्द्र कितनी उत्कृष्ट भावना करते थे। उनके अन्तरग मे पवित्र उदासीनता, निवृत्तिभाव, मोक्षस्वरूप को प्राप्त करने का उत्साह जागृत था। यह निर्ग्रन्थ दशा-साधक दशा धन्य है, जो माहात्म्य करने योग्य है।

श्मशान, जङ्गल, पहाड, गुफा आदि स्थानो मे, जहाँ सिंह आदि रहते है वहाँ एकाकी रूप से विचर सके – ऐसी महापवित्र दशा धन्य है। वे मुनिवर भी धन्य है – जो ऐसे शान्त, एकान्तक्षेत्र में एकत्व-दशा की साधना करते हैं। किसी पर्वत की गुफा में या शिखर पर रहकर वेहद आनन्दघन स्वभाव की मस्ती में लीन होकर जाग्रत ज्ञान-दशा की एकाग्रता द्वारा केवलज्ञान शक्ति को प्रगट करूँ, या एकात निर्जन वन मे नग्न निर्ग्रन्थ मुनि बनकर, सहज-स्वरूप में मग्न होकर पूर्णपद प्रगट करूँ – ऐसी पूर्ण पवित्रदशा कब आवेगी, यही भावना प्रस्तुत पद में की गई है।

जहाँ सिह बाघ गर्जन करते है, जहाँ साधारण जीव काँप उठें – ऐसे वन-क्षेत्र मे शान्त, एकाकी, निस्सग परिणामवाले, महावैराग्यवान, उपशम-समता की मूर्ति, चैतन्य ज्योतिस्वरूप बनकर आनन्दमय, सहज समाधि मे लीन हो जाऊँ – ऐसा अपूर्व अवसर कब आवेगा ?

जिनके अन्तरग अभिप्राय मे अशरीरी चैतन्यभाव वर्तता है, वर्तमान चारित्र मे कुछ परिपक्वता होने से जङ्गल की एकात स्थिति का विकल्प आता है और उत्कृष्ट साधकदशा की भावना को पूर्ण करने के लिये सिहो से परिपूर्ण घने जङ्गल, पर्वत की गुफा या एकात स्थान में जाकर निश्चल आसन लगाऊँ और बाह्य व अन्तरग मे अक्षोभता रखूं – ऐसा चिन्तवन होता है, उनके क्षोभरहित परिणाम सहज ही होते हैं। शरीर स्थिर रहे या न रहे – यह भिन्न बात है, क्योंकि वह आत्मा के आधीन नही है, किन्तु अन्तरग मे वीतरागमय निश्चल स्थिर भाव की एकाग्रता बढती जाती है। ऐसी स्वरूप-जागृति की स्थिति मे सिह आकर क्या करेगा ? यह शरीर तो मुझे नही चाहिये, इसलिए उसे लेने के लिए आनेवाला अर्थात् उसकी निवृत्ति करानेवाला मेरा उपकारी मित्र है – ऐसी भावना का उत्साह ऐसे साधक को ही होता है।

कोई बाह्य-भावना का पक्ष करता है, किन्तु यहाँ तो पूर्ण स्वरूप के उत्साह की भावना है। जो आत्मा से हो सके – ऐसी ज्ञानक्रिया या स्वरूप में रमणता का विचार है। इसप्रकार के अडिग, निश्चल असीम स्वरूप का विश्वास और स्वीकारता तो करो ! कभी सिह शरीर के टुकडे भी कर दे तो भी क्षोभ न हो। यह भावना विवेक-सहित है, मूढतायुक्त नही है। हठयोगजनित मन की बाह्य स्थिरता से मूढ हुए लोगो की यहाँ बात नही है। यहाँ तो असली साधकदशा की भावना है। कहा भी है –

ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम म्हारो रे और न चाहुँ रे कंथ।
रीझ्यो साहेब सग न परिहरे रे मांगे सादि अनन्त ।।

इसप्रकार अखण्ड वीतराग-दशा की भावना की गई है। इसलिए आगे बढकर अपनी शुद्ध-चेतना-सखी को कहते हैं –

चलो सखी वहाँ जाइए जहाँ अपना नहीं कोई।
माटी खाय जानवरा, मुवाँ न रोवे कोई॥

'देह का चाहे जो हो, किन्तु अखण्ड समाधि का मङ्गल-उत्सव हो' – ऐसी स्वरूप की सावधानी, निःशंकता, निर्भयता कैसे आवे? ऐसी भावना यहाँ की गई है।

जैसे राजमहल मे राजा निर्भय होकर सोता है, वैसे ही मुनिराज बाह्याभ्यतर निर्ग्रन्थ दिगम्बर दशा मे पर्वत, वन आदि क्षेत्र मे जहाँ सिंह-बाघ रहते है, वहाँ भी वे स्वसन्मुखता द्वारा बाह्य-अभ्यतर असग एकत्वदशा साधते है और ध्यान मे निश्चल रहकर स्वरूप-मस्ती मे सहज आनन्द की रमणता मे रहते है।

जैसे स्वच्छ जल से भरा हुआ सरोवर हो, और जब हवा न चलती हो, तब स्थिर दिखता है, उससमय वह पूर्णचन्द्र के बिम्ब से विशेष उज्ज्वल दिखता है। वैसे ही मुनिराज शान्त, धीर, गम्भीर, उज्ज्वल समाधि मे मस्त रहकर, जैसे मानो अभी केवलज्ञान प्राप्त करेगे – ऐसे बेहद पूर्णस्वभाव मे दृष्टि लगाकर एकाग्र होते हैं। ऐसी अवस्था मे कभी बाघ अथवा सिंह भूख से गर्जना करता हुआ आये, तब भी वे जानते है कि 'परम मित्र का योग मिला है, क्योंकि मुझे तो शरीर की आवश्यकता नही है' और जो शरीर को अपना नही मानता है, उसके लिये शरीर को ले-जानेवाला सिंह मित्रसमान है। अहो! देह से मेरे दर्शन-ज्ञान-चारित्र का लाभ या नुकसान नही है।

समयसार में कहा है –

"यह शरीर छेदा जाय, भेदा जाय, या कोई इसे ले जाय, या इसे नष्ट कर दे या इसका चाहे जो कुछ हो, किन्तु यह मेरा नहीं है।"

शरीर के प्रति जिसे अणुमात्र भी ममत्व नही है – ऐसी अशरीरी भावना मे रहनेवाले धर्मात्मा का भाव कितना उत्कृष्ट होता है, यह देखने की चीज है! अहो! विचार करो कि ऐसा विचार करते समय श्रीमद् जवाहरात के व्यापार में थे या आत्मा मे?

जिससमय श्रीमद् ने इस काव्य की रचना की थी, उससमय उनका बम्बई मे जवाहरात का व्यापार था, किन्तु फिर भी सब परिग्रह से निवृत्त होने की और उत्कृष्ट साधकदशा की भावना भाते थे। इस काव्य का एक-एक शब्द गम्भीर भावार्थयुक्त है। वे महावैराग्यवान थे और पुरुषार्थ द्वारा मोक्षस्वभाव दशा प्रगट करूँ – ऐसी भावना-सहित आंशिक स्वरूप की स्थिरता की सावधानी रखकर मुनित्व की भावना यहाँ की गई है, इसीलिए श्रीमद् कहते हैं कि इस शरीर की स्थिति पूरी होने ही वाली है, उसमे निमित्त होनेवाले वाघ-सिंह का सयोग मित्र-समान है। ससार-प्रवृत्ति मे अमुक समय तक निवृत्ति लेकर सत्समागम, सत्शास्त्र के अध्ययन, श्रवण, मनन की रुचि न करे तो उनको इस जाति की भावना का अंश भी कहाँ मे आवे ?

श्रीमद् राजचन्द्र गृहस्थवेश में होते हुए भी, वीतरागी मुनित्व की दशा प्राप्त हो – ऐसी भावना भाते थे। मैं जङ्गल मे बैठा होऊँ और हरिण मेरे शरीर को लकडी का ठूँठ समझकर उससे अपने शरीर की खाज खुजाते होवे, फिर भी क्षोभ न हो – ऐसी स्थिरता की भावना करते थे। बाह्य से योग हो या न हो – यह उदयाधीन है, किन्तु इस अशरीरी भाव की स्वीकारता तो उत्पन्न करो। पुरुषार्थ करना उदयाधीन नही है, बल्कि अपने आधीन है। ऐसी उत्कृष्ट भावना का उत्साह धर्मात्मा को आता ही है।

ससारी जीवो को बाह्य सयोग, उपाधिरूप वैभव का उत्साह होता है कि मेरे बगला हो, मेरे टेबिल, कुर्सी, गद्दी, तकिया, पखा वगैरह हो। उनमे मोहाभिभूत होकर हर्ष अनुभव हो – ऐसी विपरीत भावना वे करते रहते हैं, क्योंकि उनके ससार का ही अपार प्रेम-तृष्णाभाव रहता है। जो परवस्तु मे सुखबुद्धि करने और रागी-द्वेषी बनने मे ही सतोष मानता हो, उसके रागरहित, पवित्र आत्मा की रुचि, श्रद्धा कैसे हो ?

एक बार एक भाई श्रीमद् के पास गये और उनके सम्मुख गद्दी पर बैठकर बीडी पीते-पीते पूछा –

"आप ज्ञानी हैं इसलिए बताइये कि मोक्ष कैसे मिले।"

श्रीमद् ने उत्तर दिया :– "ऐसे को ऐसा ।"

इस उत्तर से दो अभिप्राय प्रगट होते है ।(१)आप जैसे हैं, वैसे हो जाओ अर्थात् स्थिर हो जाओ । (२) दूसरा अभिप्राय यह है कि तत्त्व की रुचि के बिना ज्ञानी के प्रति प्रेम, विनय या बहुमान नही होता । शरीर के प्रति आसक्ति रखनेवाले पर से सुख माननेवाले व विषय-कषाययुक्त ससारी रुचिवाले जीवो को मोक्ष की रुचि कैसे हो ? राग, द्वेष तथा देहादि से सर्वथा छूटना मोक्ष है । त्याग-वैराग्य की भावना बिना तथा देहादि के प्रति ममता या आसक्ति की कमी किये विना कोई शुद्ध आत्मा को देखना चाहे तो कैसे देखे ? जिसे आत्मभान तो न हो और शरीर के क्षेम-कुशल रखने की ममता हो, उसको रागरहित अतीन्द्रिय आत्मा की श्रद्धा कैसे हो ? इसलिए देह की ममता पहले घटानी चाहिए ।

श्रीमद् ने इस गाथा मे शरीर को छोडने की – अशरीरी होने की भावना का वर्णन किया है । उन्होने कहा है कि सिंह का सयोग होने पर ऐसा मानना चाहिए जैसे कि – **परम मित्रनो जाणे पाम्या योग जो** (मानो परम मित्र का सयोग मिला हो) मेरे तो शरीर रखने की इच्छा नही और सिंह को शरीर रखने की इच्छा है । 'मुझे शरीर के प्रति ममत्व नही है मुझे उसकी आवश्यकता नही है' – ऐसा समझकर मेरे शरीर का नाश करनेवाले हे सिंह ! तू ही मेरा उपकारी है ।

श्रीमद् अशरीरी भाव की भावना ससारी वेश में रहते हुए भी करते थे । केवलदर्शन, केवलज्ञान प्रगट करने का प्रयोग विचारते थे । उनकी भावना थी कि ऐसा प्रसग मिले जिससे कि गजकुमार की तरह मुझे भी शीघ्र ही मोक्ष-स्वभाव प्रगट हो जाय । स्वभाव की रुचि का रसिक पूर्ण वीतराग-स्वरूप की भावना करता है । ससार की रुचिवाला मोही जीव विपरीत मनोरथ करता है कि मुझे खूब धन, घर, स्त्री, खेत, गाडी आदि मिले । मेरे धन, वैभव, परिवार खूब बढे और मै लहलहाते, भरे-पूरे खेत आदि को छोडकर मरूँ । इसके विपरीत ज्ञानी धर्मात्मा

यह भावना करता हूँ कि मैं अविचल शुद्ध-स्वभाव में स्थिर रहते हुए उग्र पुरुषार्थ करता हुआ दो घड़ी में केवलज्ञान प्रगट करूँ।

मुनि जंगल में आत्म-स्वरूप के ध्यान में लीन हों और उस समय सिंह उनका गला पकड़े, तो उससमय केवलज्ञान पर दृष्टि रखते हुए चैतन्य का अतीन्द्रिय असीम पुरुषार्थ प्रगट होता है। सिंह के मुख में चैतन्य कैसे पकड़ा जाय? चैतन्य तो जो कुछ होता है, उसको जानता है। इसलिए श्रीमद् ने कहा कि "सिंहे पकड्यु गळं त्यारे ज्ञानीने पकड्यो अडोल स्थिरता।" श्रीमद् ने गृहस्थ वेश में ऐसी भावना भायी कि कब मैं क्षपकश्रेणी पर चढ़कर अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्रगट करूँ। इसप्रकार का अपूर्व भाव कोई जागे तो भलो ॥११॥

देह मात्र संयोग है

देह मात्र संयोग है, अरु जड़ रूपी दृश्य।
चेतन की उत्पत्ति लय, किसके अनुभव वश्य ॥६२॥
जिसके अनुभव वश्य यह, उत्पन्न लय का ज्ञान।
वह उससे पृथकत्व बिन, हो न किसी विधि भान ॥६३॥
जो संयोग विलोकिये, वह वह अनुभव दृश्य।
उपजे नहिं संयोग से, आत्मा नित्य प्रत्यक्ष ॥६४॥
जड़ से चेतन यदि बने, चेतन से जड़ होय।
ऐसा अनुभव किसी को, कभी कहीं ना होय ॥६५॥
नहीं किसी संयोग से, जिसकी उत्पत्ति होय।
नाश न जिसका किसी में, इससे नित्य सदाय ॥६६॥
तारतम्य क्रोधादि का, सर्पादिक के मांहि।
पूर्व जन्म संस्कार से, जीव नित्यता वहां हि ॥६७॥
आत्मा द्रव्य से नित्य है, परिवर्तन पर्याय।
बाल आदि वय तीन का, ज्ञान एक को थाय ॥६८॥
अथवा ज्ञान क्षणिक का, जो जाने वदनार।
पर वह वचना क्षणिक नहीं, कर अनुभव निर्धार ॥६९॥
कभी किसी भी वस्तु का, केवल होय न नाश।
चेतन पाता नाश तो, किसमें मिले तलाश ॥७०॥

– श्रीमद् राजचन्द्र : आत्मसिद्धि शास्त्र

छन्द १२

घोर तपश्चर्यामां पण मनने ताप नहीं,
सरस अन्ने नहीं मनने प्रसन्नभाव जो;
रजकण के रिद्धि वैमानिक देवनी,
सर्वे मान्या पुद्गल एक स्वभाव जो ।
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ।।१२।।

हिन्दी पद्यानुवाद

घोर तपश्चर्या से मन को खेद ना,
नहीं सरस भोजन से मिले प्रसन्नता;
रजकण से लेकर वैमानिक ऋद्धि तक,
सबको माता पुद्गल स्वभाव जो ।
अपूर्व अवसर ऐसा कब मेरे आएगा ।।१२।।

छन्द १२ पर प्रवचन

अतीन्द्रिय आनन्द मे लीनता का रसास्वाद-अनुभव बढ़नेपर शुभाशुभ इच्छाओ का निरोध होता है, कहा भी है 'इच्छानिरोध तप.' । श्रीमद् तपश्चर्या मे भी उत्कृष्टता दर्शाते है ।

स्वरूप-रमणता में प्रवर्तमान साधक जीव को उग्र पुरुषार्थ के बढने पर निर्ग्रन्थ मुनि-अवस्था में कभी-कभी ऐसा अवसर आता है कि दो-दो महीनो तक अनाहारक स्थिति हो जाती है । कभी-कभी ६ महीना तक भी आहार छूट जाता है, किन्तु मन में किसीप्रकार का ताप नही होता । शरीर के कृश होने की ग्लानि नही, खेद भी नहीं, उल्टे निश्चल समता की वृद्धि होती है । सहज आनन्दसागर-दशा में झूलते हुए खेद का अंश भी कैसे हो ? ऐसी साधक दशा को धन्य है !

ससारी जीव मोक्ष चाहते है, किन्तु एक दिवस भूखे रहने का अवसर आ जाय तो कँपकँपी होती है और खाने-पीने की लोलुपता के वश होकर आगे-पीछे की तैयारी करने में अनेक प्रकार के नाटक

करते हैं, परन्तु मुनि आत्मा के आनन्दसहित स्वरूप की लीनता में स्थिर रहते हैं, कभी-कभी छह-छह माह तक आहार न मिलने पर भी कैसे पूर्ण हुए, इसके स्मरण करने की वृत्ति तक उनके नहीं रहती।

स्वरूप में निश्चल रहने में एक क्षणमात्र का भी विराम न होने दूं ऐसी जिनकी भावना थी – ऐसे महर्षियो में श्रेष्ठ तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव थे। वैशाख शुक्ला ३ को वे संसार छोड़कर निष्परिग्रही वनस्थ जंगल में चले गए थे। दीक्षा के समय में उनके वह चौथा मनःपर्ययज्ञान प्रगट हुआ जो कि इसी भव में मोक्ष तक जाता है। अकषायी स्थिरता का अभ्यास बढ़ाते हुए उनके विकल्प हुआ कि छह महीना आहार न लूंगा। छह माह पूरे होनेपर उनके आहार लेने की वृत्ति उठी, किन्तु आहार का योग नहीं बना। फिर छह माह तक आहार का अन्तराय रहा, अतः पुनः छह माह आहार नहीं मिला, किन्तु इसका उन्हें खेद नहीं था। इसप्रकार वे आहार बिना बारह महीने तक रहे।

ऐसे धीर, वीर, शूरवीर मुनिराज मुनि-धर्म के पालन में सावधान रहते हैं। ज्ञान-दशा तीनों काल में ऐसी ही होती है। कोई शिथिलता की बात करे तो वह मोक्षमार्गस्थ नहीं है, क्योंकि आत्मा में असीम अनन्त शक्ति है, वह कभी घटती नहीं है। ३६० दिनोंतक चारों प्रकार के आहार बिना उपवास की स्थिति की घोर तपश्चर्या में किसी मुनि का शरीर कमजोर भी दिखे, शरीर अस्थिपंजरमात्र रहते हुए भी अन्तर में चैतन्य भगवान असीम समता से तृप्त है। मेरे जड़ की खुराक नहीं है, शरीर की स्थिति जैसी रहना है वैसी ही रहेगी, ऐसा वह जानता है।

मुनि के असाता का उदय हो तो भूख लगे और साता का उदय हो तो आहार मिले, साता का उदय न हो तो नहीं मिले, किन्तु मन में दुःख नहीं। जिसे शरीर की अधिक आसक्ति है, वह ऐसा सुनते ही काँपता है, किन्तु जिसे इस मुनि-दशा की तैयारी हो, उसके असीम सामर्थ्य तैयार रहती है, पीछे वैसा योग बने या न बने यह अलग बात है, किन्तु भावना हल्की कैसे हो? आत्मा अन्तरंग में असीम सामर्थ्य

से प्रत्येक समय परिपूर्ण रहना है, इसलिए उसकी भावना भी उत्कृष्ट ही होनी चाहिये ।

संसारी जीव ममता के वश होकर पूर्णता की इच्छा करते है और इसीलिए विवाह के गीतो मे गाया जाता है कि – 'मैं तो थाल भर्यो सग (परिपूर्ण) मोतोए ।' चाहे थाल का ठिकाणा नही हो, चाहे उसमे एक भी मोती नही हो, किन्तु मनोरथ तो मोतियो से परिपूर्ण थाल का ही है। इसप्रकार ममता की शिखाएँ भी पूर्णता चाहती है, अधूरापन नही । जीव विपरीतता की उत्कृष्टता चाहता है, इसलिए वह अनन्त तृष्णा द्वारा अपने को पूर्ण करना चाहता है ।

यहाँ मोक्ष का इच्छुक ससार-भाव से पलट कर सवल वना और ऐसा होकर पूर्ण समता की यह भावना करता है कि 'सिद्धा सिद्धि मम दिसंतु ।' मेरा पूर्ण शुद्धस्वरूप शीघ्र प्रगट हो । यह भावना अखण्ड-रूप से जहाँ होगी, वहाँ वह ससार के भाव को नही रहने देगी । जहाँ अनाहारक-चैतन्य की रमणता मे बेहद पुरुषार्थ का उद्यम हो, वहाँ ऐसी अपूर्वदशा का अंश प्रगट कर धर्मात्मा उसी भावना मे रहता है । उत्कृष्ट साधक दशा का उत्कृष्ट पुरुषार्थ पूर्ण होनेपर सादि-अनन्त कालपर्यन्त शाश्वत निराकुल अनन्तसुख रहता है ।

अज्ञानी जीव मुनि-अवस्था में घोर परिषह की वात सुनकर व्याकुल होता है, जबकि धर्मात्मा-सम्यग्दृष्टि वैसे घोर तप और परिषह के सम्मुख कहता है कि मेरे में अनन्त शक्ति है ।-एक समय की अवस्था मे भी अनन्त समता भरी हुई है । अनन्तकाल भी ज्ञातारूप मे स्थिर रहने का अनन्त सामर्थ्य चैतन्य मे है । स्वभाव की क्या सीमा ? जिसका अनन्त स्वभाव है, उसमें सीमा नही होती ।

चैतन्य अनादि-अनन्त, असीम सामर्थ्य से पूर्ण, ज्ञानघन है । 'मैं शरीर नही हूँ, उस शरीर के कारण मुझे किसीप्रकार का नफा-नुकसान नही है । घोर तपस्या से शरीर जीर्ण हो जावे । जैसे सूखे कोयले अथवा लकडी गाडी में भरे हो और वे खडखडाएँ, वैसे ही छह-छह महीने उपवास सहज ही हो जाने पर शरीर की हड्डियाँ वजने लगे – ऐसी भावना श्रीमद् ससार मे रहते हुए करते थे । यह भावना भाते

हुए वे भोजन करते थे या तपस्या करते थे ? वास्तव में यह भावना सच्ची-दृष्टिपूर्वक श्रावक-अवस्था में की जानी चाहिए और उत्कृष्ट रूप मे करनी चाहिए । 'अपूर्व अवसर' पुरुषार्थ से सुलभ होता है और वेहद चैतन्यशक्ति का अनुभव बढने पर जीव अपनी शक्ति को छिपाता नहीं ।

सरस अन्ने नहीं मनने प्रसन्न भाव जो – मेरे मे ही अनन्ततृप्ति है तो फिर किससे तृप्त होऊँ ? मुनि को किसी समय आहार की वृत्ति आई और चक्रवर्ती राजा के यहाँ से उनको आहार-दान प्राप्त हुआ, जिसमे पुष्ट और सुन्दर आहार मिला; किन्तु उससे उनमे प्रसन्नता का विकल्प नहीं है । ऐसी उत्कृष्ट समभावी दशा मुनि के सहज ही होती है । चक्रवर्ती राजा के खीर का अति उत्तम भोजन होता है । कभी उस आहार को लेने का योग बने तो उसमें ज्ञानमस्त मुनि को प्रसन्नता का भाव नही होता । शरीर को आहार की प्राप्ति उदयाधीन अर्थात् प्रारब्ध-अनुसार होती है । साता का उदय हो और शरीर रहना हो तो आहार मिले ही, उसमे हर्ष कौन करे ? अन्तरग मे परम सतोषामृत का स्वाद होने से मुनि को आहार के प्रति राग नही है । जिसे विषय, कषाय और आहार की लोलुपता है, उसको हाफुस आम देखकर, मुँह से लार टपकती है और उसका स्वाद लेने के लिए व्याकुल होता है और वह खाते समय हर्ष मनाता है ।

जब निर्ग्रन्थ मुनि को छह-छह माह के उपवास के पारणे में सयम के हेतु निर्दोष आहार की इच्छा हो, तब आहार सरस मिले या नीरस, किन्तु उसमे प्रसन्न-अप्रसन्न नही होते । जिसे देहादि मे सुखबुद्धि है – ऐसे ससारी जीव को आहारादि में गृद्धता होने से सरस भोजन की इच्छा होती है । मुनि तो ऐसी भावना करता है कि मेरे अनाहारक स्वभाव में ज्ञान की स्थिरता के सिवाय कुछ भी उपाधिभाव नही होना चाहिए । मेरे स्वरूप की रमणता में, शाति में इस क्षुधाकी पीडा का विकल्प कैसा ? सब छूट जाओ । मै असग हूँ, इसलिए समाधिस्थ, स्वरूपस्थिरता-रमणता का अपूर्व अवसर कब आवेगा ? ऐसी भावना यहाँ की है ।

रजकण के ऋद्धि वैमानिक देवनी,
सर्वे मान्या पुद्गल एक स्वभाव जो।

अति मलिन एक रजकण से लेकर पुण्य में उत्कृष्ट वैमानिक देव की ऋद्धि तक सब पुद्गल की विकारी पर्यायें हैं। वे मेरे चैतन्य का लाभ करनेवाली नही हैं। वैमानिक देव के पुण्य की ऋद्धि, सूर्य-चन्द्र आदि देवो की पुण्य की ऋद्धि से बहुत अधिक होती है, उसका वर्णन शास्त्र मे है। वहाँ अति उज्ज्वल अत्यधिक पुण्य के समूह का योग है। उनसे भी अधिक पुण्य के कर्मरजकणो का योग हो तो भी मुनि को उनकी महिमा नही है, क्योकि वह तो ज्ञाता रहकर जानता है कि पुद्गल की अनेक विचित्रताओ में चैतन्य का अशमात्र भी गुण नही है। उनमे राग के कारण वह अटकते हो तो उनके उपाधि का बन्धन हो। अपना जो अनन्त सुखस्वरूप आत्मा लक्ष्य में है, उसे पूर्ण करने का पुरुषार्थ और स्वरूप प्रगट करने का उत्साह रहता है, किसी निमित्त में अटकने का भाव उनके नहीं है।

इस १२ वी गाथापर्यन्त चारित्रमोह को क्षय करने की भावना है। अव शेष नौ गाथाओ मे सूक्ष्म चर्चा है।

एक-एक शब्द का विस्तार करने में दिवस बीत जाये, इसलिये सक्षेप मे कथन करना पडता है, उसमे जो आशय हो उसको विचरना चाहिए। अहा! सर्वथा कषायक्षय की चर्चा आनेवाली है। इस काल मे इस क्षेत्र में मोक्ष-प्राप्ति नही है, किन्तु फिर भी १२ वी गाथा मे वर्णित सातवे गुणस्थान का चारित्र प्रगट करे तो उसे मोक्ष-प्राप्ति का भी समय आ सकता है।

आगे की नौ गाथाओ में वर्णित क्षपकश्रेणी, शुक्लध्यान का पुरुषार्थ इस काल में नही है तो भी भावना तो भायी जा सकती है। प्रथम आत्मा की सच्ची पहचान और श्रद्धा को दृढतर करने का पुरुषार्थ और अभ्यास करना चाहिए। सत्समागम बिना अपूर्व अवसर की प्राप्ति नही होती। जैसे सेना मे नौकरी करनी हो तो उसे सर्व-प्रथम निशानेबाजी सीखने का अभ्यास करना पडता है और वह

अभ्यास मौके पर काम आता है, वैसे ही धर्मात्मा मुमुक्षु को प्रारम्भ से ही तत्त्वज्ञान के अभ्यासपूर्वक अपूर्व अवसर की भावना मे लीन होना चाहिए।

सम्यग्दर्शन होने के वाद मुमुक्षु की चारित्र की भावना दृढता-पूर्वक बढती जाती है और अनाहारक, अशरीरी कैसे होऊँ – यह विचार आता है। बहुत से लोग मानते है कि आहार बिना शान्ति नही होती, किन्तु बहुतसी वार देखा जाता है कि आहार के बिना अशान्ति भी नही होती। जैसे कि व्यापार मे एक घण्टे मे सौ रुपये का लाभ दिखता हो तो ससारी जीव लोभ के वश एक समय का भोजन तक करना भूल जाय और कहे कि आज भूख नही लगी। इसीप्रकार ससार-भावरहित अपूर्व आनन्द का अवसर पाकर अकषाय, अलोभ दृष्टि के लक्ष्य मे आहार सहज ही छूट जाता है। ससारी जीव अवगुण के लक्ष्य मे आहार लेना भूल जाते है, उसीप्रकार साधक जीवो का अनाहारक शुद्धस्वभाव के लक्ष्य मे अकषाय से परिपुष्ट पुरुषार्थ की जागृति मे छह-छह महीना तक आहार सहज छूट जाता है, अरे! आहार की इच्छा भी नही होती। ऐसी दशा में आत्मशान्ति या परम सतोष होता है, उससे बाह्यवृत्ति या आकुलता नही होती।

ऋषभदेव भगवान को बारह मास के पारणे मे ईख का रस मिला था, किन्तु अन्तरग में अखण्ड समता की मुख्यता होने से हर्ष नही था। भक्त हर्षसहित भावना करते है कि धन्य घडी कब होगी, जब वे सुपात्र को आहारदान दे। उनके निमित्त से मुनिश्वर को सयम-साधना का पोषण मिले, उसमे भाव यह है कि वीतराग-भाव सदा बना रहे जिससे दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि सयम की पुष्टि हो। इसप्रकार भक्तिभाव से भक्त हर्ष मनाये और भावना भावे कि ऐसा अपूर्व अवसर मुझे कब आवेगा?॥१२॥

> कषाय की उपशान्तता, मात्र मोक्ष अभिलाष।
> भवेँ खेद अन्तरदया, वह कहिये जिज्ञास ॥१०८॥
>
> – श्रीमद् राजचन्द्र आत्मसिद्धि शास्त्र

छन्द १३

एम पराजय करीने चारित्र मोहनो,
आवुं त्या ज्यां करण अपूर्व भाव जो;
श्रेणी क्षपकतणी करीने आरूढ़ता,
अनन्य चिंतन अतिशय शुद्ध स्वभाव जो।
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ।।१३।।

हिन्दी पद्यानुवाद

इसप्रकार चारित्र मोह को जीत लूं,
आऊँ जहाँ अपूर्व करण का भाव हो;
श्रेणी क्षपक चढ़ूं निज में आरूढ़ हो,
नित्य निरंजन अतिशय शुद्ध स्वभाव जो।
अपूर्व अवसर ऐसा कब मेरे आएगा ।।१३।।

छन्द १३ पर प्रवचन

इसप्रकार जो चारित्रमोह या अस्थिरता का क्षय करने का पुरुषार्थ अचल स्वरूप की स्थिरता द्वारा प्रगट करता है, उसके बुद्धि-पूर्वक विकल्प नष्ट होकर स्थिरता विकसित होती है, उस स्थिति को अप्रमत्त दशा कहते हैं। छठवें-सातवें गुणस्थान में अनन्तानुबंधी आदि तीन कषायों की चौकड़ी का अभाव रहता है, किन्तु चारित्रगुण में कुछ मलिनता रहती है। अप्रमत्त गुणस्थान में बुद्धिपूर्वक विकल्प या राग का अंश नहीं रहता, किन्तु सूक्ष्म कषाय-अंश रहता है, जो केवलीगम्य है।

इसके बाद आठवें गुणस्थान में क्षपकश्रेणी का प्रारम्भ होता है; वहाँ उपशम नहीं है, किन्तु चारित्रमोह को क्षय करनेरूप क्षपकश्रेणी का उग्र पुरुषार्थ है। क्षपकश्रेणी शुक्लध्यान का प्रथम चरण है। इस गुणश्रेणी में प्रति समय अनन्तगुणी परिणाम-विशुद्धि बढ़ती जाती है। जैसे स्वर्ण को शुद्ध करते समय भट्टीमें १५ वे ताव के बाद १६ वें ताव

के अन्त में उसे पूर्ण शुद्ध पाते है, वैसे ही १२ वे गुणस्थान में शुक्ल-ध्यान का दूसरा चरण शुरू होने के बाद १३ वे गुणस्थान मे ४ घातिया कर्मों का नाश होकर सम्पूर्ण निर्मल केवलज्ञान प्रगट होता है। सर्वज्ञ प्रभु के उस केवलज्ञान मे एक समय में सर्व विश्व (सर्व जीव-अजीव वस्तु सामान्य-विशेषरूप से) प्रतिभासित होता है। इस केवलज्ञान का स्वरूप-युक्ति, आगम और स्वानुभव से सिद्ध है।

यहाँ चारित्रमोह के क्षय और शुक्लध्यान की क्षपकश्रेणी के उग्र पुरुषार्थ की चर्चा है। बारहवे गुणस्थान तक जीव की साधक दशा है। चारित्रमोह का उदय दसवें गुणस्थान तक रहता है। ग्यारहवे गुणस्थान मे चारित्रमोह का उदय नही होता, बारहवे गुणस्थान में चारित्रमोह का सर्वथा क्षय होता है। यह जीव आठवे गुणस्थान से क्षपकश्रेणी प्रारम्भ कर बीच मे नही रुकता हुआ और आगे बढता हुआ दो घडी मे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य — जो शक्तिरूप मे अवस्थित थे, उनको प्रगट करता है। जिसे उस उत्कृष्ट अपरिमित सुख की रुचि हुई है, उस साधक के कही रुकने की प्रवृत्ति नही होती। इसप्रकार का निर्ग्रन्थ मुनिमार्ग ही तीनो काल में सनातन मोक्षमार्ग है। विदेहक्षेत्र मे भी त्रिकाल यही मुनिमार्ग है।

"करण" का अर्थ 'परिणाम' है। चारित्र के 'अपूर्वकरण' का अर्थ है — पूर्व स्थिरता लाने तथा केवलज्ञान-केवलदर्शन प्रगट करने का प्रयोग, अर्थात् स्वरूप-स्थिरता की श्रेणी मे आरुढ होना। सम्यग्दर्शन होने से पूर्व जो अपूर्वकरणरूप परिणाम होता है, उसकी यहाँ बात नही है। इस अपूर्वकरण मे समय-समय मे अनन्तगुणी शुद्धि की वृद्धि द्वारा जीव पूर्ण अकषायस्वरूप बनानेवाले पुरुषार्थ को करने के लिए शुक्लध्यान श्रणी मे प्रवेश करता है। इस अपूर्वकरण मे पहले नही हुए ऐसे विशुद्ध परिणामो की एकाग्रता रहती है। इस स्वरूपस्थिरता में एकाकार, तन्मय, अखण्ड, धाराप्रवाही ज्ञान की एकाग्रता और गुण की उज्ज्वलता प्रतिक्षण बढती जाती है।

जो कुछ चारित्र-मल का सूक्ष्म उदय होता भी हो, तो उसे भी क्षपकश्रेणी द्वारा टालता हुआ साधक स्वरूप-श्रेणी की लीनता मे

आरूढ होता हुआ "अनन्य चिन्तन अतिशय शुद्ध स्वभाव जो" की दशा प्रगट करता है। यहाँ बिल्कुल एकरूपता रहती है।

कुशल घुडसवार को लाख रुपये के मूल्यवाले घोडेपर आरूढ होने के बाद पाँच गाँव का अन्तर पूरा करने में कितनी देर लगे? उसीप्रकार अपूर्वकरण की स्थिरता द्वारा स्वरूप-रमणता में जो साधक एकाग्र हो गया, उसे केवलज्ञान की प्राप्ति मे कितनी देर लगे? अर्थात् अधिक देर नही लगे। अनन्य चिन्तन द्वारा अतिशय शुद्ध अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप में मेरी लीनता बढती जाय और उसमे आरूढ होकर क्षपकश्रेणी शुरू करूँ — ऐसा अवसर शीघ्र प्राप्त हो, यह भावना श्रीमद् ने इस पद मे की है ॥१३॥

यही धर्म का मर्म

उस जिज्ञासु जीव को हो, सद्गुरु का बोध।
तो पावे सम्यक्त्व को, वर्ते अन्तर शोध ॥१०९॥

मत दर्शन का पक्ष तज, वर्ते सद्गुरु लक्ष्य।
लहे शुद्ध सम्यक्त्व वह, जिसमें भेद न पक्ष ॥११०॥

वर्ते आत्म स्वभाव का, अनुभव लक्ष्य प्रतीत।
वृत्ति वहे निज भाव में, परमारथ समकीत ॥१११॥

वर्धमान सम्यक्त्व हो, त्यागत मिथ्याभास।
उदय होत चारित्र का, वीतराग-पद वास ॥११२॥

केवल आत्म स्वभाव का, अखण्ड वर्ते ज्ञान।
कहिये केवल ज्ञान वह, देहस्थ भी निर्वाण ॥११३॥

कोटि वर्ष का स्वप्न भी, जागे तुरत विलाय।
तथा विभाव अनादिका, ज्ञान होत मिट जाय ॥११४॥

छूटे देहाध्यास तो, नहिं कर्ता तू कर्म।
भोक्ता तू उसका नहीं, यही धर्म का मर्म ॥११५॥

— श्रीमद् राजचन्द्र आत्मसिद्धि शास्त्र

छन्द १४

मोह स्वयंभूरमण समुद्र तरी करी,
स्थिति त्यां ज्यां क्षीणमोह गुणस्थान जो;
अंत समय त्यां पूर्णस्वरूप वीतराग थई,
प्रकटावुं निज केवलज्ञान निधान जो।
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ।।१४।।

हिन्दी पद्यानुवाद

मोह स्वयभू रमण उदधि को पार कर,
क्षीणमोह गुणस्थान निकट हो जाएगा;
वीतराग पूर्ण स्वरूप निज आत्म में,
केवलज्ञान निधान प्रगट हो जाएगा।
अपूर्व अवसर ऐसा कब मेरे आएगा ।।१४।।

छन्द १४ पर प्रवचन

अब श्रीमद् १४ वी गाथा में केवलज्ञान प्रगट होने की भावना करते है –

जैसे राजमहल मे जाने के लिए सीढियाँ होती है, वैसे ही अपने सहजस्वरूप स्वराज-महल मे जानेवाले का लक्ष्य अपना पूर्ण पवित्र मोक्ष-स्वरूप है। जैसे महल में जाने के लिए नीचेकी सीढियाँ छूटती जाती है, वैसे ही स्वराज-महल में जाने के लिये चौदह गुणस्थानरूप सीढियाँ है।

पहला गुणस्थान मिथ्यात्व है। उस गुणस्थानवाले बहिरात्मा जीवो को अपने वास्तविक आत्मस्वरूप का ज्ञान नही है। बहिरात्मा यह नही मानता की मै केवल ज्ञाता-दृष्टा, वीतराग, चिदानन्द, शाश्वत हूँ। मेरे मे ही स्वाधीन सुख, बेहद आनन्द-शान्ति है – ऐसा उसे विश्वास नहीं होता। वह देहादि, राग-द्वेष, पुण्य-पाप को अपना मानता है। वह देहादि वाह्य-सयोगो में इष्ट-अनिष्ट और सुख-दु ख

की मिथ्या कल्पना कर राग-द्वेष का कर्ता और हर्ष-शोक का भोक्ता बन जाता है। वह मोही जीव जो कुछ मानता है, जानता है, आचरण करता है वह सब उल्टा है, इसलिए उसके दर्शन, ज्ञान एव आचरण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान एव मिथ्याचारित्र होते है, उसके श्रद्धा, ज्ञान और आचरण असत्य है।

दूसरा गुणस्थान चौथे गुणस्थान से वापस आनेवाले के होता है। चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन होकर शुद्ध आत्मस्वरूप का ज्ञान होता है। जब देहादि तथा रागादि से भिन्न केवल चैतन्यस्वरूप का ज्ञान होता है, तब स्वानुभव-स्वरूपाचरण प्रगट होता है, किन्तु तब चारित्रगुण पूर्णरूप से प्रगट नही होता।

पाँचवाँ देशविरति गुणस्थान है। उसमें आशिक स्थिरता है, यह देशविरति कहलाता है। उसके बाद छठवे व सातवे गुणस्थान में सर्वविरतिरूप मुनिपना है।

आठवे अपूर्वकरण गुणस्थान में जिसके क्षपकश्रेणी होती है, उसके अतिशय शुद्ध स्वभावमय पवित्र दशा बढती जाती है। तत्पश्चात् क्रमश नववाँ एव दसवाँ गुणस्थान होता है। वहाँसे सीधा बारहवाँ गुणस्थान होता है। वहाँ मोह का क्षय कर जीव तेरहवे गुणस्थान मे सयोगी केवली जिन वीतराग सर्वज्ञ भगवान होता है, तब उसके अनन्तचतुष्टय पूर्णरूप से प्रगट होते है। यहाँ बारहवे क्षीणमोह गुणस्थान के अतिम समय की बात है।

श्रीमद् ने मोह को स्वयभूरमण समुद्र की उपमा दी है। उस समुद्र का माप असीम विस्तारवाला है। दो हजार कोस का एक योजन और ऐसे असख्यात योजन का यह महासमुद्र है। इस मध्यलोक को तिर्यक्लोक कहने मे आता है और उसके मध्य मे जम्बूद्वीप एक लाख योजन के विस्तारवाला थाली के आकार है। उसके आगे एक-दूसरे को घेरे हुए वलयाकार असख्यात द्वीप-समुद्रो की परपरा है। उसमें अन्तिम स्वयभूरमण समुद्र है।

साधक यह विचारता है कि जैसे मोह महासमुद्र-जैसा है, वैसे ही मेरे में भी उससे भी अनन्तगुणी अपरिमित बेहद शक्ति है, इसकारण

मै प्रगटदशा में आत्मा की इतनी असीम स्थिरता को बढाऊँ कि उससे मोह सर्वथा दूर हो जाय और मैं जैसा शुद्ध पवित्र ज्ञानघन हूँ, वैसा प्रगटदशा में भी बना रहूँ, स्वरूप मे अत्यन्त सावधानी रखूं, जिससे चारित्रमोह स्वय क्षय हो जावे।

अज्ञानी मोही जीव अनादिकाल से अपनी भूल के कारण ससार में भ्रमण करता है। वह परद्रव्य-परभाव मे अपनत्व का भ्रम करने मे अपने मे सुख-शान्ति का अभाव हुआ है – यह नही मानता। उसने परवस्तु मे सुख-शान्ति की कल्पना की है। जीव अपनी भूल मे राग-द्वेष, अज्ञान द्वारा महा अविवेकी हुआ है। साधक जीव ने उस भूल को सत्समागम और सद्विवेक द्वारा दूर किया है।

चारित्रमोह की शक्ति के सम्बन्ध मे वह कहता है कि उस मोह की शक्ति से अनन्तगुणी शक्ति चैतन्य मे है किन्तु थोडीसी अस्थिरता है, उसको दूर कर क्षपकश्रेणी पर आरूढ होकर आठवे, नववे, दसवे गुणस्थान में जाकर अतिशय शुद्ध स्वभाव की अधिक उज्ज्वल स्थिरता को बढाते हुए चारित्रमोह का क्षय कर 'क्षीणमोह' नामक १२ वाँ गुणस्थान प्राप्त करूँ। इसीसे पूर्ण स्थिरता अर्थात् शुद्धस्वभाव की लीनता मे अकेले चैतन्य आनन्दघन शान्त रस का अनुभवन होता है।

जब वीतरागदशा के पूर्ण करने का वीर्य स्व-स्वरूप में बढता है, तब उसके "प्रकटावु निज केवलज्ञान निधान जो" – ऐसी दशा होती है। जो शक्तिरूप मे है, उसे पूर्णरूप से प्रगट करना है, फलतः अनन्त आनन्द और केवलज्ञान-लक्ष्मी प्रगट होती है।

केवलज्ञान में परको जानने का लक्ष्य या विकल्प नही है, फिर भी पर जाना जाता है – ऐसा सहज स्वभाव है। आत्मस्वभाव मे अपरिमित केवलज्ञान भरा हुआ है। उस पूर्णता के लक्ष्य मे पुरुषार्थ कर पूर्ण स्थिर होऊँ, तो केवलज्ञान-ज्योति और वीतराग-सर्वज्ञ परमात्मपद प्रगटे, ऐसा साधक जानता है। पूर्ण शुद्ध चेतना-स्वरूप और केवलज्ञान-निधान जीव लक्ष्य है। अत केवलज्ञान को 'अनन्तचक्षु' या 'सर्वचक्षु' भी कहा है।

केवलज्ञान मे लोक-अलोक (सम्पूर्ण विश्व) अणु की तरह, त्रैकालिक द्रव्य-गुण-पर्यायसहित एक समय मे स्पष्ट दिखता है। यह अचिंत्य असीम ज्ञानशक्तिवाला केवलज्ञान प्रत्येक चैतन्यमय आत्मा के स्वद्रव्य और स्वभाव मे त्रिकालशक्तिरूप से विद्यमान रहता है, उसका किसी भी समय अभाव नही है।

"सर्व जीव छे सिद्ध सम, जे समजे ते थाय।" गृहस्थावस्था में पूर्णता के लक्ष्य से यह भावना की है कि मै जल्दी केवलज्ञान-लक्ष्मी प्रगट करूँ। साधक सर्वप्रथम सिद्धपरमात्मा जैसा शुद्ध-आत्मस्वरूप है वैसा यथार्थरूप से जानकर, परमपद-प्राप्ति की भावना करता है।

सब प्रकार से त्रिकाली आत्मद्रव्य को जैसा है, वैसा जानने से ही सच्चा समाधान होगा और उसीसे अज्ञानमय रागद्वेष भी नही होगा। "आकुलता (अशान्ति) रहित केवल समता अर्थात् असीम आनन्दमय परम सुख मेरे मे ही है" जिसे ऐसा यथार्थ अनुभव (स्वसवेदन) होने के बाद बाह्यवृत्ति की तरफ रुचि नहीं रहती, उसे ही केवलज्ञान की भावना होती है। 'इस स्वरूप की पूर्णता जल्दी प्रगटे' – यह भावना इस गाथा में की गई है।

सकल मार्ग निरग्रन्थ

सद्गुरु के उपदेश से, हुआ अपूरव भान।
निज पद निज माहि लिया, दूर हुआ अज्ञान ॥११९॥

भासत आत्म स्वरूप जो, शुद्ध चेतना रूप।
अजर अमर अविनाश औ, देहातीत स्वरूप ॥१२०॥

कर्त्ता भोक्ता कर्म का, वर्ते विभाव माहि।
वृत्ति वहे निज भाव में, हुआ अकर्त्ता त्यांहि ॥१२१॥

अथवा निज परिणाम जो, शुद्ध चेतना रूप।
कर्त्ता-भोक्ता उसी का, निर्विकल्प स्वरूप ॥१२२॥

मोक्ष कहा निज शुद्धता, वह पाता उस पथ।
समझाया सक्षेप में, सकल मार्ग निरग्रन्थ ॥१२३॥

– श्रीमद् राजचन्द्र : आत्मसिद्धि शास्त्र

छन्द १५

चार कर्म घनघाती ते व्यवच्छेद ज्यां,
भवना बीजतणो आत्यन्तिक नाश जो;
सर्वभाव-ज्ञाता-द्रष्टा सह शुद्धता,
कृतकृत्य प्रभु वीर्य-अनन्त प्रकाश जो ।
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ।।१५।।

हिन्दी पद्यानुवाद

चार घातिया कर्म नष्ट अब हो गए,
भव का बीज मिटा आत्यन्तिकरूप से;
सर्व भाव ज्ञाता-दृष्टा सह शुद्धता,
कृतकृत्य प्रभु वीर्य अनन्त प्रकाश जो ।
अपूर्व अवसर ऐसा कब मेरे आएगा ।।१५।।

छन्द १५ पर प्रवचन

केवलज्ञान प्रगट होनेपर आत्मा की कैसी दशा होती है, यहाँ यह बताते है ।

तेरहवे गुणस्थान में आत्मा की पूर्णशुद्ध, पवित्र केवलज्ञानदशा प्रगट होती है, चार घातिया कर्म का नाश होता है । अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य की हीनता मे चार घातिया कर्म – ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अतराय – क्रमश निमित्त है । आत्मा स्वय विपरीत परिणमे तो वे 'निमित्त' कहलाते है । कर्म घनघाती है, तो आत्मा ज्ञानघन है । कर्म का स्वभाव बन्धरूप है तो आत्मा का स्वभाव मोक्ष है । जिसने इस स्वभाव को पहचान लिया, उसे जडकर्म का बल नही दिखता । तेरहवे गुणस्थान में चार घातिया कर्मों का क्षय होता है और उससे ससार के बीज का नाश होता है । चार अघातिया कर्म – वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र – जली हुई रस्सी की तरह रहते हैं, इसलिये वे स्वरूप को विघ्नरूप नही है ।

"सर्वभाव-ज्ञाता-द्रष्टा सह शुद्धता" – निश्चय से निजस्वभाव के केवल अखण्ड ज्ञान वर्तता है – ऐसा समझना वास्तविक परमार्थ है। अज्ञानी मानता है कि केवलज्ञान होनेसे लोक और अलोक दिखते हैं, उसको लोकालोक देखने मे ही महात्म्य लगता है, यह उसकी बाह्य-दृष्टि (व्यामोह) है। दूसरे ज्ञेयो को जानने का व्यामोह पराश्रित भाव है। अन्तर्गत चेतन में, स्वज्ञेय मे, जानने-योग्य कुछ नही है – ऐसा अज्ञानी मानता है, जब कि ज्ञानी की अपने स्वरूप के अखण्ड ज्ञान पर दृष्टि है। 'परज्ञेयो का सम्पूर्ण जानना केवलज्ञान है' यह निमित्त का उपचार-कथन है। अपने पुरुषार्थ से पूर्ण केवलज्ञान स्वाधीनरूप से प्रगट होता है, उसमे पर को जानने की इच्छा नही है। जब 'केवल' – अपने स्वभाव का अखण्ड निर्विकल्प – 'ज्ञान' रहता है, तब परवस्तु अर्थात् जगत् के अनन्त पदार्थ उस निर्मल ज्ञान मे सहज ही जाने जाते हैं। इसकी सिद्धि इस गाथा में की गई है।

"सर्वभाव-ज्ञाता-दृष्टा सह शुद्धता" अर्थात् सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव एक समय में उस केवलज्ञान मे सामान्य और विशेषरूप से एकसाथ सहज ही जाने जाते हैं।

जगत् में अनन्त जीव और अजीव हैं, वे सब स्वतंत्र द्रव्य हैं, उनमे से प्रत्येक द्रव्य मे सामान्य और विशेषपना है। सामान्य सत्ता के अवलोकन-व्यापाररूप दर्शन-उपयोग मे सर्व विश्व को देखना सहज ही हो जाता है। उसीसमय उन सभी द्रव्यो की एक समय मे होनेवाली उत्पाद-व्यय-स्वरूप अवस्था-विशेष भी ज्ञानोपयोग मे सहज ही झलक जाती है। इसतरह अपना अखण्ड ज्ञान-दर्शन एकसाथ प्रवर्तता है।

आत्मा की श्रद्धा होने के बाद स्वरूप की रुचि और भावना (एकाग्रता) बढते-बढते अखण्डता के अवलम्बन द्वारा पूर्णशुद्धता प्रगट होती है। तेरहवे गुणस्थान में भावमोक्ष-दशा है। उसमे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य की दशा ही "सह शुद्धता" है। अनन्तवीर्य पूर्ण-रूप से प्रगट हुआ है, इसीसे **"कृतकृत्य प्रभु वीर्यअनन्त प्रकाश जो'** यह दशा होती है। यह वीर्यगुण आत्मा के सर्व गुणो को

स्थिर रखनेवाला है, ऐसा कृतकृत्य वीर्य (स्वरूप का वल) उस सहज स्वभाव मे एकरूप है।

प्रश्न :– यह पूर्ण कृतकृत्य शुद्धस्वभाव कैसे प्रगट हुआ, अर्थात् प्राप्त की प्राप्ति कौनसे क्रम से हुई ?

उत्तर :– जीव अनदिकाल से भेदज्ञानरहित होने के कारण देहादि, पुण्य-पाप, रागादि जडकर्म मे एकत्वबुद्धि से (ये मेरे है – ऐसी मान्यता से) अहभावपूर्वक वन्धन में रुका था। उसे सत्समागम द्वारा आत्मा के शुद्धस्वरूप की यथार्थ प्रतीति करने से, स्व और पर का विवेक जागृत हुआ और उसने स्वानुभव की दशा उत्पन्न की। 'मै शुद्ध हूँ' – ऐसी यथार्थ श्रद्धा और भेदज्ञानसहित स्थिरता के अभ्यास द्वारा चारित्रमोह का क्षय कर उसे निराकुल आनन्द, वेहद सुख-शान्ति-स्वरूप की प्राप्ति हुई, क्योकि भावमोह का अभाव हो जाने से ऊपर का आवरण नही रहा।

बारहवे गुणस्थान मे चारित्रमोह का क्षय हो जाने से पूर्ण वीतरागतारूप शुद्धता प्रगट होती है। अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य की पूर्ण शुद्धता प्रगट होने मे अन्तर्मुहुर्त लगता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय का क्षय हो जाता है। अनन्त-चतुष्टयमय सुप्रभातरूपी केवलज्ञान-ज्योति प्रगट होती है। राग-द्वेषरूप मोहकर्म का सर्वथा क्षय हो जाने से वह 'जिन' कहलाता है। पूर्ण कृतकृत्य होने से वह 'परमात्मा' कहलाता है, ईश्वर, शिवस्वरूप, जिनेश्वर, भगवान, वीतराग आदि अनेक नामो से सम्वोधित होता है। सम्पूर्ण ज्ञानदशा को 'सर्वभावातरच्छिद्' भी कहते है। उसका अर्थ यह है कि केवलज्ञान मे स्व और स्व से भिन्न समस्त जीव-अजीव चराचर पदार्थ तथा उनके समस्त क्षेत्र, काल, भाव एक ही समय मे स्वाभाविकरूप से सामान्य और विशेपरूप से स्पष्ट जाने जाते है।

निश्चय से अपने अन्तिम पुरुषाकार अरूपी ज्ञानपिण्ड में केवल निज स्वभाव का अखण्ड ज्ञान-दर्शन एक ही समय मे रहता है। देह रहते हुए जीव के जो सर्वज्ञदशा होती है, वह तेरहवाँ गुणस्थान है।

"केवलज्ञान अनन्त को नहीं जानता है, केवलज्ञान में सम्पूर्ण सर्वज्ञता नही है" – इस मान्यता का निराकरण उक्त कथन मे होता है ।

'आत्मा एक ही नही, अपितु अनन्त आत्माएँ हैं' – यह भी सिद्ध हुआ । अजीव-अचेतन पदार्थ भी अनन्त है । ईश्वर, सर्वज्ञ, भगवान या परमात्मा – जो कुछ कहो वह जगत् की व्यवस्था का करनेवाला नहीं है – यह भी साथ में सिद्ध हुआ । "मै शुद्ध हूँ" – ऐसी जिसे आत्मा की अपूर्व रुचि है, वह देहादि वाह्य-निमित्त को तथा काल-कर्म के कारण को नहीं देखता, किन्तु वह पूर्ण शुद्धस्वरूप प्रगट करने की ही भावना निरन्तर करता है ।

यदि ससार की रुचिवाले के कभी पुण्ययोग से एक बच्चा ही हो जाय तो उसको उस बच्चे का विवाहोत्सव करने का उल्लास बहुत दिन पहले ही शुरू हो जाता है और उस सम्बन्ध मे काफी चिन्तन होता रहता है । उसकी माँ भी अनेक गीत गाकर प्रेम प्रगट करती है, उसकी आवाज भी बैठ जाती है, फिर भी वह रात-दिन के जागरण और थकावट को कुछ भी नही गिनती । इस विवाह प्रसग में वह बहुत तल्लीन हो जाती है । ऐसा विपरीत पुरुषार्थ ससार की रुचिवाले करते है, वे अन्य बात नही सुनते, न याद करते है ।

अब ऐसी रुचिवाले का दूसरा मोड भी देखिये । वह ससार की रुचि को अपने पुरुषार्थ द्वारा हटाता है । 'मै शुद्ध ज्ञानघन हूँ, पुण्य-पाप, रागादिरहित अक्रिय ज्ञानमात्र हूँ' – ऐसी यथार्थ श्रद्धा और पर से भिन्नत्व का ज्ञान होने से अपने पूर्ण शुद्धस्वरूप को प्रगट करने की भावना उत्कृष्ट रुचि द्वारा भाता है । साधक गिरने की बात याद नही करता और वाह्य देहादि निमित्त-कारणो तथा काल के कारणो को भी नही देखता, क्योकि उसकी श्रद्धा मे अपूर्व मगलपना है, उसे पूर्ण स्वरूप-प्राप्ति का महान उत्साह रहता है ।

देखो तो सही ! श्रीमद् गृहस्थावस्था मे थे, उनकी २९ वर्ष की युवा अवस्था थी, फिर भी उनको अपनी भावना मे पूर्ण आत्मा का भान और साधक-स्वभाव की लगन थी । श्रीमद् ५ वर्ष बाद ही समाधिमरण धारण करनेवाले थे । इस अपूर्व जागृति का कैसा स्वरूप

होगा ? 'एक ही भव मे मोक्षस्वरूप प्रगट होगा' – ऐसी भावना, इस प्रकार का विश्वास और दृढतर उत्कृष्ट रुचि कैसी होगी ? ऐसा विचार, मनन, चिन्तन प्रत्येक आत्मा को करनेयोग्य है । यथार्थ श्रद्धा होने के बाद उसकी रुचि और प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ बढता जाता है । इसप्रकार की प्रगट चारित्रदशा (निर्ग्रंथ मुनिदशा) वर्तमान मे न हो सके – यह भिन्न बात है, किन्तु उसकी भावना तो अधिकाधिक भायी जा सकती है ।

सम्यग्दृष्टि के अभिप्राय मे परमाणुमात्र तक की इच्छा नही है, उसके देहादि समस्त परद्रव्यो में निर्ममत्व भाव रहता है । उसके हेय-उपादेय का यथार्थ विवेक रहता है । 'मै पूर्णशुद्ध सिद्ध के समान हूँ, इसलिए वैसा ही बनूं – इस एकत्व का सम्यग्दृष्टि को सदा आदर रहता है और उसकी भावना भी रहती है । वह पुरुषार्थ के अपूर्व अवसर की भावना तो वर्तमान में कर ही सकता है ।

इस काल में भी सर्वज्ञ भगवान तीर्थंकरप्रभु ने एकभवावतारी जीव बताये है । स्वरूप की यथार्थ श्रद्धा, स्वरूप के लक्ष्य में जिन-आज्ञा का विचार, वीतराग-स्वरूप का चिन्तवन, स्वरूपस्थिरता की उत्कृष्ट रुचि, उसका रात-दिन मनन-अभ्यास, उत्साह, जागृति इस काल में भी हो सकती है । ससार का अणुमात्र भी प्रेम न रहे – ऐसी वीतराग-चारित्र की भावना धर्मात्मा जीव निरन्तर भाता है ।

ऐसा धर्मात्मा अपनी कमजोरी से गृहस्थ दशा में रहा हो, तथापि उस दशा मे रहने पर भी उसको एक भवावतारी होने का असदिग्ध (नि शक) विश्वास होता है । यह केवल कथनमात्र नही है । अपूर्व दशा, अपूर्व विचार और सच्चे आत्मधर्म की रुचि ऐसे ही जीव को होती है । शान्त-स्थिर चित्त से वही विचार करता है । ससारी जीव ससार की उपाधि मे सुख मानता है । मान, प्रतिष्ठा, घर, कुटुम्ब और देहादि के व्यवसाय की ममता छोडकर थोडी भी निवृत्ति धारण कर इस तत्त्व का वह विचार नही करता ।

ससारी जीवो मे खोटी प्रवृत्तियो ने जडें जमा ली है, इससे खाने-पीने आदि अनेक प्रकार की शारीरिक प्रवृत्तियो से निवृत्ति नही

मिलती । भोजन मे भी कितनी गृद्धता रहती है । रोजाना की दो-तीन साग आदि विभिन्न प्रकार की सामग्रियो से स्वाद की इच्छाओ के पोषण करने का बहुत जोर रहता है, स्त्री को भी रसोई के कार्य से छुटकारा नही मिलता । ऐसे अनेक विषयासक्त परिणामो और व्यवसायो में आत्मा की चर्चा किसे सुहावे ?

समस्त ससार दु ख से त्रस्त है । उपाधि कितने व्यापक रूप में है ? उसमे कितनी अशान्ति व्याप्त है ? इतना होते हुए भी देहादि की ममता के आगे ससारी जीव को उस अशान्ति और दु ख का भान नही होता । वह दिन-रात सब्जी, मिठाई तथा मान, प्रतिष्ठा, बडप्पन आदि का ही विचार किया करता है । विषय, कषाय और देहादि की आसक्ति कम किए बिना आत्मा की रुचि, सच्ची प्रतीति कैसे हो ? जिसे सत्पुरुष के आश्रय मे चलना हो, उसे ससार मे सुखबुद्धि की ममता छोडनी होगी ।

मुमुक्षु के लक्षण धारण करके स्वरूप की प्राप्ति के लिए सत्समागम और तत्त्वज्ञान का अभ्यास और उसमें दृढ होकर, उसके पीछे तीव्र जिज्ञासा और आत्महित का मनन किए बिना सच्चे मार्ग का आशिक भान भी नही होता । ऐसी दशा में भवभ्रमण का भय कैसे मिटे ? जो रात-दिवस अपने ससार के अन्त करने का विचार करते रहते है, उनको ससार का भय कैसे रहे ? वे मुनि धन्य है ? वह वीतरागी-दशा धन्य है ! वह अपूर्व अवसर की स्थिरता-रमणता कब आवेगी ? ऐसी तैयारी करने की उनकी यह भावना है ।

'रुचि अनुसार वीर्य' अर्थात् जहाँ जिसकी जैसी रुचि हो, वहाँ उसका वैसा पुरुषार्थ हुए बिना नही रहता । अपने को जिसकी आवश्यकता है, उसका निष्पक्षभाव से निश्चय करना चाहिए । उसमें विरोधी कारण क्या है, इस बात का ज्ञान पहले होना चाहिए ।

जिसे सच्चे हित अर्थात् मोक्षपद की रुचि है, उसे ससार के कसी भी पदार्थ की रुचि नही होती । यह मेरा शरीर स्थिर रहे, बाह्य की अनुकूलता मिले तो ठीक रहे, आदि इच्छाएँ करने का मुमुक्षु जीव को अवकाश ही नही मिलता ।

वे आत्मा को पर से भिन्न मानते है क्या ? यदि हाँ, तो उसका लक्षण क्या है ? मै आत्मा हूँ तो कैसा हूँ ? कितना बडा ? और मेरा कार्य क्या है ? यह सब पहले निश्चित करना चाहिए, क्योकि अनन्त-काल से समझ मे, मानने में भूल चली आयी है। अपने स्वभाव की खतौनी में भारी भूल है, जिसमे सारी भूले समा जाती है। मन, वचन और काय आदि जड की कोई क्रिया चेतन के हाथ नही है, क्योकि अरूपी आत्मा रूपी जड की क्रिया करे या पर की व्यवस्था करे, यह सर्वथा असम्भव है।

पुण्य-परिणाम, शुभ-अशुभभाव दोनो मोहजन्य है, औदयिक भाव है, बन्ध के कारण है। शुभराग पराश्रित-भाव होने से, उससे अविकारी आत्मा मे कोई गुण मानना भूल है। पुण्य-परिणामो को करनेयोग्य या इष्ट मानना और उनको आत्मा के हित मे कारण मानना भूलरूप मान्यता है। ऐसे विपरीत पुरुषार्थ से अबन्ध और शुद्ध आत्मा का अश भी कैसे जागृत हो ? वन्ध और कर्मभाव से अवन्ध-निष्कर्म अवस्था कभी नही प्रगट होती। इसलिए **प्रथम स्व-पर की भिन्नता, विरुद्ध भाव की विपरीतता, स्वभाव की सामर्थ्यता विरोध रहित जानना**। आत्मा की यथार्थ श्रद्धा विना सभी साधन बन्धनस्वरूप हो जाते है।

'जडकर्मों या ससार की व्यवस्था आत्मा करता है' – ऐसा मानना चक्रवर्ती राजा के सिर पर मल का बोझा डालने जैसा अनुचित कार्य है। आत्मा का 'अवन्ध स्वभाव' है, जिसे जीव अज्ञानभाव से 'वन्धवाला' मानता है। जड का बन्ध-स्वभाव है, उसका आत्मा में उपचार कर 'मै पुण्य करूँ तो ठीक, इससे आत्मा का साधन होगा, गुण होगा' – यह जो मानता है, उसने स्वगुण का घात किया है।

आत्मा का भान होने के बाद 'मै अवन्ध हूँ, असग हूँ' – ऐसे लक्ष्य-सहित स्थिर ज्ञातापने मे सावधान रहने का पुरुषार्थ भूमिका-अनुसार होता है। उसमे तीव्र-कषाय दूर होकर मदकषाय, शुभयोग, पुण्य-परिणाम हुए विना नही रहते, किन्तु धर्मात्मा उसमे हित नही मानता, क्योकि अपना सच्चा अभिप्राय तथा पुरुषार्थ अपने पूर्ण

शुद्धत्व की ओर है, उसका पूर्णपद ही लक्ष्य है। उससे नीचे शुभाशुभ भाव होते हैं, उनको वह विवेक-सहित जानता है। जो परावलम्बी भाव है, वह औदयिक भाव है, उसको करनेयोग्य और ठीक कैसे माने? चैतन्य भगवान देहादि की क्रिया का कर्त्ता नही है। मैं पर से भिन्न केवल शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ' – ऐसी श्रद्धा और भावनावाले को अल्पकाल मे चारित्रदशा आए बिना नही रहती। उसके भावी भव का अभाव ही है।

श्रीमद् को सातवे वर्ष मे जातिस्मरण-ज्ञान हुआ था। उनकी स्मरण-शक्ति इतनी तीव्र थी कि कोई भी पुस्तक एक बार पढने के बाद उसे दुबारा पढने की आवश्यकता नही रहती थी। वे श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ४५ आगम-सूत्र बहुत थोडे समय में पढ गये थे और उन्हे दिगम्बर सत् शास्त्रो का अच्छा अभ्यास था। जैन-शासन का रहस्य उनके हृदय में भरा हुआ था। ऐसी विशाल और तीक्ष्ण बुद्धिवाले श्रीमद् थे। किन्तु बाह्य में समाजस्थिति देखकर स्पष्टरूप मे लिखने का अवसर न आया। वे लोकसम्पर्क से दूर रहना चाहते थे और निरन्तर स्वरूप की सावधानी का विचार, शास्त्र-स्वाध्याय तथा गम्भीर मनन करते थे और भावना करते थे कि कब निवृत्ति लेऊँ।

धर्मात्मा अपनी अन्तरग की स्थिरता बढे बिना हठपूर्वक त्याग कर ससार से भागते नही, क्योकि हठ से कुछ नही होता। स्व-सन्मुखता का पुरुपार्थ बढने पर मुनि-पद की भावना और मुनित्व आता ही है।

धर्मात्मा गृहस्थ को अस्थिरता के कारण शुभ और अशुभ वृत्ति होती है, किन्तु उसका आदर नही है। उसकी दृष्टि मे ससार का अभाव रहता है और वह वैराग्य बढाता हुआ मोक्ष की भावना भाता है।

जहाँ जिसकी रुचि हो, वहाँ उसकी प्राप्ति का पुरुषार्थ हुए बिना नही रहता। धर्मात्मा को निवृत्ति का ही विचार आता है, स्वप्न में भी उसका ही विचार होता है। ससार की ममता कम करके कुछ महिने निवृत्ति लेकर सत्समागम करे और बारम्बार शास्त्र का

अध्ययन, मनन और विचार करे तो मोक्ष की रुचि बढती है। तत्त्व की यथार्थ रुचि होने पर स्थिरता की प्राप्ति के लिए अनन्तवीर्य प्रगटे, ऐसा अपूर्व अवसर (स्वकाल-दशा) कब आवे – ऐसी भावना इस गाथा मे भायी है।

इस तेरहवी भूमिका में आत्मा की पूर्ण शान्त समाधि (असीम सुखदशा) रूप परमावगाढ सम्यक्त्व और यथाख्यात-चारित्र प्रगट होता है ।।१५।।

तू है मोक्षस्वरूप

इसी धर्म से मोक्ष है, तू है मोक्ष स्वरूप ।
अनन्त दर्शन-ज्ञान तू, अव्याबाध स्वरूप ।।११६।।

शुद्ध बुद्ध चैतन्य घन, स्वय ज्योति सुखधाम ।
और कहें हम कहाँ तक, कर विचार तो पाम ।।११७।।

निश्चय सर्व सुज्ञानी का, आकर यहाँ समाय ।
मौन धार ऐसी कहो, सहज समाधि माय ।।११८।।

अहो ! अहो ! श्री सदगुरु, करुणा सिंधु अपार ।
इस पामर पर प्रभु किया, अहो ! अहो ! उपकार ।।१२४।।

आत्मभ्रान्ति सम रोग नहि, सद्‌गुरु वैद्य सुजान ।
गुरु आज्ञा सम पथ्य नहि, औषध विचार ध्यान ।।१२९।।

जो इच्छुक परमार्थ तो, करो सत्य पुरुषार्थ ।
भव-स्थिति आदि नाम ले, छेदो नहि आत्मार्थ ।।१३०।।

आगे ज्ञानी हो गये, वर्तमान में होय ।
होगे काल भविष्य में, मार्ग-भेद नहि कोय ।।१३४।।

सर्व जीव है सिद्ध सम, जो समझे वह होय ।
सद्‌गुरु आज्ञा जिन दशा, निमित्त कारण होय ।।१३५।।

मुख से कथनी ज्ञान की, अन्तर गया न मोह ।
वह पामर प्राणी करे, मात्र ज्ञानी का द्रोह ।।१३७।।

– श्रीमद्‌ राजचन्द्र : आत्मसिद्धि शास्त्र

छन्द १६

वेदनीयादि चार कर्म वर्ते जहाँ,
बळी सींदरीवत् आकृतिमात्र जो;
ते देहायुष आधीन जेनी स्थिति छे,
आयुष पूर्णे मटिये दैहिक पात्र जो।
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ॥१६॥

हिन्दी पद्यानुवाद

वेदनीय आदि चउ कर्म रहे अभी,
जली हुई रस्सीवत् छाया मात्र है;
देहायुष आधीन रहेंगे जब तलक,
आयु पूर्ण टूटता दैहिक पात्र जो।
अपूर्व अवसर ऐसा कब मेरे आएगा ॥१६॥

छन्द १६ पर प्रवचन

केवलज्ञानी के चार अघातिया कर्म कैसे होते है – यह सोलहवी गाथा में बताते है।

तेरहवी भूमिका मे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य प्रगट होता है, किन्तु अब भी चार अघातिया कर्म जली हुई जेवडी (रस्सी) की भाँति विद्यमान रहते है, किन्तु वे बाधक नही है और आयु पूर्ण होने तक उनकी स्थिति है। आयु पूरी होने से जीव की देह में रहने की स्थिति पूरी होती है और वह मुक्ति प्राप्त करता है, फिर जन्म नही होता।

जब तक आत्मा का यथार्थ भान नही होता, तब तक परवस्तु, देहादि, पुण्यादि मे कर्तृत्व, ममत्व और सुखबुद्धि दूर नही होती। जीव यदि कभी अज्ञानपूर्वक शुभ-परिणाम करे तो पापानुबन्धी पुण्य बाँधेगा और परम्परा से नरक-निगोद मे जाएगा। यह निश्चित है कि आत्मा के भान एव श्रद्धान बिना भव (ससार) कम नही होता।

सच्चे हित की समझ बिना इस जीव को अनन्तकाल से इस ससार में परिभ्रमण करना पडा है । इसने कभी भी अपूर्वज्ञान द्वारा आत्मा को पर से भिन्न नही समझा, जिससे आत्मा हमेशा कर्म-बन्धन में रहा और शरीर-सम्बन्ध नही छूटा । एक शरीर से छूटकर अन्य शरीर-धारण के लिए जाते समय भी तैजस और कार्माण शरीर बरावर आत्मा के साथ ही रहते हैं । सम्यग्दर्शन के बिना बाहर में भी बहुत से प्रतिकूल सयोग दिखते है, क्योकि निर्दोष ज्ञानाशक्ति को भूलकर यह जीव पराश्रय से लाभ मानता है, पर-सत्ता को स्वीकार कर बन्ध-भाव मे लगा हुआ है, परवस्तु मे सुखबुद्धि और इष्ट-अनिष्ट की कल्पना कर वह रागी-द्वेषी होता है और आत्मा को भूलकर पुण्यादि-पर-उपाधि मे सुख मानता है ।

जैसी मान्यता होती है, वैसी ही रुचि होती है और रुचि-अनुसार आचरण हुए बिना नही रहता । अपने मे ही अनन्त आनन्द भरा हुआ है, इसका जीव को विश्वास नही होता, इसकारण आनन्द से विपरीत दु ख अवस्था और अशाति का ही साम्राज्य रहता है । आत्मा स्वय स्वतत्र आनन्दरूप है, यदि उसकी प्रगट आनन्दरूप दशा न हो तो दु खरूप अवस्था ही प्रगट होगी । जीव ने अपने को भूलकर पर से ममत्व किया, इससे उसने अपने आनन्द को क्रोध, मान, माया, लोभ द्वारा विगाडा अर्थात् अपने स्वाधीन स्वरूप (ज्ञातास्वभाव) का ही विरोध किया ।

स्वभाव के अनन्त सुख को छोडकर पुण्य-पाप, मान-अपमान के वश होकर जो यह मानता है कि 'मै सुन्दर हूँ, अन्य को मै जैसा रखूँ वैसा ही रहे, मै अन्य को सुखी-दुखी कर सकता हूँ, जिला सकता हूँ, मार सकता हूँ या उसकी व्यवस्था कर सकता हूँ,' वह अपने चैतन्य के शाति-स्वरूप को भूलता है । पर की व्यवस्था को मै रख सकता हूँ – ऐसा जो मानता है, वह महा उपाधिरूप अशाति को पाता है ।

लोग एक-दूसरे की कुशलक्षेम पूछते है, तब उत्तर मे कहा जाता है कि 'आनन्द है, मुझे दु ख नही है ।' किन्तु थोडा गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर मालूम पडता है कि महामोह ने आत्मा के आनन्द

ज्ञानी जीव भावना करता है कि मै पूर्ण, शुद्ध, असग हूँ । उसे अपनी पूर्ण पवित्रता प्रगट करने की रुचि मे ससार की रुचि करने का अवकाश नही रहता । ज्ञानी स्वरूप की भावना करता है कि 'मै नित्य, अतीन्द्रिय ज्ञानमय हूँ, परमाणुमात्र भी मेरा नही है ।' वह क्रमश स्वरूप मे स्थिर होता हुआ ससार से निर्ममत्वी हो जाता है । अज्ञानी जीव ससार मे – देहादि-विषयो मे एकत्व-बुद्धि करता है कि 'यह मैने किया, मै यह कर सकता हूँ, मैने दूसरो को सुखी किया और मेरे से ही यह सबकुछ होता है ।' – इन मिथ्या विकल्पो से वह आत्मा को अपराधी, उपाधिवाला, जड, पराधीन और पुद्गल का भिखारी बनाता हुआ स्वय विशेष दु खी बनता है, उसको रात्रि मे भी स्त्री, धन, व्यापार आदि के ही स्वप्न आते है ।

ज्ञानी धर्मात्मा श्रीमद् ने २९ वे वर्ष में अपूर्व अवसर की भावना भायी कि देहादि की उपाधि-चिन्ता उत्पन्न न हो और आत्मा का पूर्ण, असग, शुद्धस्वरूप प्रकट कर अशरीरी बनूँ । परम तत्त्व की दृढ रुचि होने पर स्वप्न भी उस सबन्धी ही आते है । ऐसी रुचिवाला रात-दिन आत्मा को ही देखता है, जानता है और विचार करता है कि "मै अशरीरी हो जाऊँ । मै मानो महान सन्त मुनिवरो के सत्सग मे बैठा हूँ, मै मुनि हो गया हूँ, मुमुक्षुओ का समुदाय एकत्रित है, नग्न निर्ग्रंथ मुनियो के सघ मुझे दिखाई पडते है, मै मानो मुनि होकर मोक्ष-दशा मे पहुँच गया हूँ" आदि प्रकार के स्वप्न ज्ञानी देखा करता है ।

जिसे ससार की रुचि है, वह पुण्य-पाप, देहादि के कार्यों को अपने आश्रित मानता है । यह उसका अज्ञानमय कर्तृत्वभाव है, बन्धभाव है । आत्मा तो निराकुल चैतन्य आनन्दमूर्ति है ।

"चेतनरूप अनूप, अमूरत, सिद्ध-समान सदा पद मेरो"

तथा ऐसा मेरा पूर्ण पद शीघ्र प्रकट हो अन्तरग मे ऐसी भावना का दृढ अभ्यास करने से चारित्र-गुण विकसित होकर वीतरागता प्रगट होती है ।

ससारी मोही जीव बाह्य उपाधि से तथा धर्म के नाम पर पापानुबन्धी पुण्यभाव द्वारा अपना विकास चाहता है, जबकि ज्ञा ी

मानता है कि वह आनन्दस्वरूप की स्थिरता मे ही विकसित हो सकता है, एक परमाणुमात्र की भी उपाधि उसके पास नही रहनी चाहिए। वह ऐसे अबन्ध-भाव मे वीतरागदृष्टि द्वारा स्वरूप की सावधानी बढाता है और अपूर्व स्थिरता (ज्ञान की एकाग्रता) की साधना करता है। इस पवित्रता की रमणता में देहादि-परमाणुमात्र का सम्बन्ध भी दूर हो जावे, ऐसा अपूर्व अवसर कब आवेगा ? — ऐसी भावना इस गाथा में की गई है। इसप्रकार की आतरिक व्यवस्था प्राप्त हुए बिना कोई भी मोक्ष-स्वभाव को प्राप्त नही करता।

शुद्ध आत्मस्वरूप कैसे प्रकट हो — यह भावना इस गाथा में व्यक्त की गई है। जिसमे जिसकी रुचि होती है, वह उससे कम नही माँगता, स्वीकार नही करता। 'जिसे ससार के धन, इज्जत आदि की रुचि है, वह रागादि-तृष्णा द्वारा खूब परिग्रह की इच्छा करता है तथा वह जल्दी प्राप्त हो' — ऐसी भावना करता है। किन्तु ज्ञानी को उससे विपरीत सबल पुरुषार्थ होता है। वह यह समझता है कि यह ससार एकात दु खमय है एव अज्ञानजनित अशान्ति से दग्ध हो रहा है, किन्तु उसका आत्मा ससार से भिन्न, बेहद शान्ति-आनन्दमय ज्ञानघन है। उसे शुद्ध तत्त्वस्वरूप की एकाग्रतामय भावना होती है। तथा क्रमशः पूर्ण की ओर रुचि बढती जाती है। धर्मात्मा को अपने पूर्ण शुद्ध आत्मपद की ही यथार्थ श्रद्धा और रटन लगी रहती है, वह पूर्णता के लक्ष्य से पूर्ण होने की भावना करता है ॥ १६ ॥

ईश्वर शुद्ध स्वभाव

कर्त्ता ईश्वर है नहीं, ईश्वर शुद्ध स्वभाव।
यदि उसको प्रेरक कहें, ईश्वर दोष प्रभाव ॥ ७७ ॥

चेतन जो निज भान में, कर्त्ता आप स्वभाव।
वर्ते नहिं निज भान में, कर्त्ता कर्म प्रभाव ॥ ७८ ॥

— श्रीमद् राजचन्द्र आत्मसिद्धि शास्त्र

छन्द १७

मन, वचन, काया ने कर्मनी वर्गणा,
छूटे जहाँ सकल पुद्गल संबंध जो;
एवुं अयोगी गुणस्थानक त्यां वर्ततुं,
महाभाग्य सुखदायक पूर्ण अबंध जो ।
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ।।१७।।

हिन्दी पद्यानुवाद

मन-वच-काया अरु कर्मों की वर्गणा,
छूटे जहाँ सकल पुद्गल सम्बन्ध जो;
यही अयोगी गुणस्थान हो जाएगा,
महाभाग्य सुखदायक पूर्ण अबन्ध जो ।
अपूर्व अवसर ऐसा कब मेरे आएगा ।।१७।।

छन्द १७ पर प्रवचन

यहाँ अव चौदहवी 'आयोगी जिन' भूमिका का कथन किया जाता है ।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि आठ कर्म इन पुद्गलरजकणो से मयोगी-सम्बन्धवाले है और अनादिकाल से प्रवाहरूप में चले आ रहे है । पुराने कर्म दूर होते जाते है और नये कर्म आते है – ऐसा अनादिकालीन प्रवाह था, वह १४ वे गुणस्थान में रुकता है ।

'आत्मा अबन्ध है, मोक्षभाववाला है', उसे भूलकर इस जीव ने बन्धभाव मे अटक कर अनन्त दु.ख पाए है, किन्तु जब से स्वसन्मुखता द्वारा सब बन्धभावो को भेदकर सम्यग्दर्शन प्रगट किया, तब से पूर्णता के लक्ष्य में स्थिरता का पुरुषार्थ बढाते-बढाते जीव के जब केवलज्ञान प्रगट होता है, तब वह तेरहवाँ गुणस्थान 'सयोगी केवलीत्व' प्राप्त करता है । चौदहवे गुणस्थानमें शेष चार अघातिया कर्मो के छूटने का काल पाँच ह्रस्व स्वरो (अ, इ, उ, ऋ, लृ) के बोलने-जितने समय का है ।

उससमय आत्मप्रदेशो का कपन नही है तथा किसी भी कर्म-परमाणु का आस्रव नही है। उक्त पाँच ह्रस्व स्वरो मे जितना समय लगे, उतने समय में आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मो की स्थिति पूरी होकर आत्मा अविनाशी, मुक्त-सिद्धदशा को प्राप्त करता है।

तेरहवे गुणस्थान मे साक्षात् सर्वज्ञप्रभु के पूर्ण वीतराग होते हुए भी योग का कम्पन होने से एक समयमात्र का कर्म का आस्रव होता है, जिसकी उसीसमय निर्जरा हो जाती है। तेरहवे गुणस्थान मे जडदेह के रजकण अति-उज्ज्वल स्फटिक जैसे स्वच्छ हो जाते है और पृथ्वी से पाँच हजार धनुष ऊँचे सहजरूप से उस देह का विचरण होता है।

यदि तेरहवे गुणस्थानवाले के 'तीर्थंकर' नामक नामकर्म की उत्कृष्ट पुण्य-प्रकृति का योग हो तो इन्द्रो द्वारा समवशरण की अलौकिक, आश्चर्यकारक रचना होती है। वहाँ गधकुटी, रत्नजडित सिहासन, अशोकवृक्ष, मानस्तम्भ आदि अनेक प्रकार की, अति सुन्दर रचना होती है। सौ इन्द्र भगवान की भक्ति करते है। भव्य जीवो को अति उपकारी निमित्त-स्वरूप उनकी दिव्यध्वनी ॐ रूप छूटती है। वे देह की स्थिति पूरी होने पर, अयोगी अबन्ध अवस्था पूर्ण कर सिद्ध-शिला पर शाश्वत आनन्द मे विराजेगे।

"सर्वजीव छे सिद्ध-सम, जे समजे ते थाय।"

प्रत्येक आत्मा मे अनुपम, अतीन्द्रिय, बेहद सुख शक्तिरूप मे विद्यमान है। द्रव्यस्वभाव ही सुखरूप है, स्वाधीन है। यदि वह शक्तिरूप मे न हो तो कभी प्रगट भी नही हो सकता। आत्मशक्ति पूर्ण है, वह उसीप्रकार के (पूर्ण) श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र द्वारा प्रगट हो सकती है, अन्य उपाय से मोक्ष नही हो सकता। इससे यह निश्चित हुआ कि पुण्य से नही, मन के शुभ-परिणाम से नहीं, शरीर से नही, किन्तु आत्मा मे से ज्ञान प्रगट करके और उसमे स्थिरता करने से मोक्षमार्ग और मोक्षदशा प्रगट होती है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी इसप्रकार की भावना आतरिक स्थिरता-पूर्वक करते थे। वह भावना एक भव बाद पूर्णता प्राप्त करने की थी, सका उन्हे पूर्ण विश्वास था। 'अपूर्व अवसर' मे श्रीमद् ने साधक-

स्वभाव का यथार्थ वर्णन किया है और क्रमशः उसके श्रेणी-विकास का कथन किया है। दर्शनमोह के क्षय होने के बाद साधकदशा मे आगे बढते हुए क्षपकश्रेणी द्वारा आठवे गुणस्थान से चारित्रमोह कर्म के उदय का क्षय होता जाता है। बारहवाँ गुणस्थान क्षीणमोह है। चार-घातिया कर्मों के क्षय होने पर सर्वज्ञपद – तेरहवाँ गुणस्थान प्रगट होता है। महाभाग्यवान पूर्ण सुखदायक अबन्ध दशा प्रगट हो – ऐसा स्वकालरूप 'अपूर्व अवसर' कब आवे, ऐसी भावना इस गाथा मे की गई है ॥ १७ ॥

मोक्ष-पंथ भव-अन्त

भाव कर्म निज कल्पना, इससे चेतन रूप ।
जीव वीर्य की स्फूरणा, ग्रहण करे जड़ धूप ॥ ८२ ॥

विष अमृत समझे नहीं, जीव खाय फल पाय ।
यो शुभाशुभ कर्म का, भोक्तापना जनाय ॥ ८३ ॥

एक रक और एक नृप, इत्यादिक जो भेद ।
कारण बिना न कार्य हो, यही शुभाशुभ वेद ॥ ८४ ॥

फल दाता प्रभु ईश की, इसमें नहीं जरूर ।
कर्म स्वभाव से परिणमें, होत भोग से दूर ॥ ८५ ॥

बीते काल अनन्त जो, कर्म शुभाशुभ भाव ।
वही शुभाशुभ छेदते, उपजत मोक्ष स्वभाव ॥ ९० ॥

देहादिक सयोग का, आत्यंतिक जु वियोग ।
सिद्ध-मोक्ष शाश्वत पदे, निज अनन्त सुख भोग ॥ ९१ ॥

कर्म भाव अज्ञान है, मोक्ष भाव निजवास ।
अधकार अज्ञान सम, नाशत ज्ञान-प्रकाश ॥ ९८ ॥

जो जो कारण बध के, वही बध के पन्थ ।
उन कारण छेदक दशा, मोक्ष-पन्थ भव-अन्त ॥ ९९ ॥

– श्रीमद्‌ राजचन्द्र : आत्मसिद्धि शास्त्र

छन्द १८

एक परमाणु मात्रनी मळे न स्पर्शता,
पूर्ण कलंक रहित अडोल स्वरूप जो;
शुद्ध निरंजन चैतन्यमूर्ति अनन्यमय,
अगुरुलघु अमूर्त सहजपद रूप जो।
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ।।१८।।

हिन्दी पद्यानुवाद

रहा नहीं परमाणु मात्र का स्पर्श भी,
पूर्ण कलंक विहीन अडोल स्वरूप हो ;
शुद्ध निरंजन चेतन मूर्ति अनन्यमय;
अगुरुलघु अमूर्त सहज पद रूप जो।
अपूर्व अवसर ऐसा कब मेरे आएगा ।। १८ ।।

छन्द १८ पर प्रवचन

अब सिद्धपद प्राप्त होने पर आत्मा की कैसी अवस्था होती है, वह बताते हैं।

जैसे आंखो में एक अन्य रजकण भी समाता नही, वैसे ही अतीन्द्रिय ज्ञानघनस्वरूप आत्मा मे किसी अन्य परमाणुमात्र का भी स्पर्श अच्छा नही लगता। उस स्वरूप को भूलकर आत्मा को पुण्यवाला, राग-द्वेषादि चिकनाईवाला, स्पर्शवाला या बन्धनवाला मानना मिथ्यादर्शन-शल्य है। आत्मा स्वभाव से सिद्ध-भगवान-तुल्य है। वह शुद्ध चैतन्यमात्र, ज्ञाता-द्रष्टा, पूर्ण शान्ति और आनन्दशक्ति रूप है, उसकी पूर्ण निर्मलदशा प्रगट होने पर एक परमाणुमात्र का भी सयोग-सम्बन्ध नही रहता – ऐसा वस्तु का सहज स्वभाव है। ऐसे अबन्ध स्वभाव की यथार्थ प्रतीति जिस आत्मा मे है, वह एक रजकण मात्र का भी बन्ध स्वीकृत नही करता, यह सम्यग्दर्शन का माहात्म्य

है। ऐसे निःशंक अभिप्राय को स्थिर रखने की सामर्थ्य चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होती है।

'मैं सिद्ध-समान शुद्ध, अबन्ध हूँ; शुभ या अशुभ कर्म के किसी भी रजकण का सम्बन्ध मेरे से नहीं है' — इस दृष्टि को सामने रखकर पूर्ण होने के लक्ष्य से स्वरूप का उत्साह बढता है और सम्यक्त्वसहित अप्रतिहतभाव से चारित्र की रमणता में — स्थिर उपयोग में एकाग्रता बढने से क्रमशः परमावगाढ सम्यक्त्व और यथाख्यात चारित्र प्रगट होता है, तब निश्चल, पूर्ण पवित्र, वीतरागदशारूप शुद्धस्वभाव प्रगट होता है।

आनन्दघन भगवान चैतन्यप्रभु मे एक परमाणुमात्र का भी स्पर्श नही है, उसमे उपाधि का अंश भी नही है — ऐसा उसका मूल स्वरूप है, इसलिए उसप्रकार की श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता द्वारा अपना पद प्रगट होता है। उसको प्रगट करने का अपूर्व अवसर कब आवे, उसकी यहाँ भावना की गई है।

धर्मात्मा निश्चयनय से अपने को अबन्ध, शुद्ध मानता है और साथ ही उसप्रकार की निःशंक श्रद्धा स्थिर रखने का पुरुषार्थ बढाता रहता है। उसे अशरीरी बनने के लिए मात्र मोक्ष की अभिलाषा रहती है। इसीलिए उसे ससार के किसी पदार्थ या पुण्यादि की इच्छा नहीं होती। उपाधि द्वारा अपना स्वरूप पहचानने में धर्मात्मा शरम मानता है और अज्ञानी जीव अपने 'अहं' को बढाते हुए उल्टी मान्यता करता है कि 'मैं सुन्दर, पुण्यवान, धनी, कुटुम्बी, इज्जतदार हूँ।'

आत्मा अतीन्द्रिय, निराकुल, शान्त, समतास्वरूप, पर से भिन्न है, उसे भूलकर उपाधि मे सुख की कल्पना करना और अपनी जाति से भिन्न जडकर्म की विकारी अवस्था से आत्मा को पहिचानना महाकलंक है। पवित्र चैतन्यमूर्ति के ऊपर भी पुण्यभाव अपवित्र मोटी फुन्सी के समान है। चैतन्य निरोगी तत्त्व है, उसे कर्म की उपाधियुक्त जानने का धर्मात्मा को खेद है। वह निरन्तर यही भावना करता है कि 'मैं अशरीरी, मुक्तदशावाला कैसे बन जाऊँ।'

देहात्मबुद्धिवाले जीव को परवस्तु में सुख-बुद्धि रहती है। वह देहादि की ममता और उसकी अनुकूलता के परिपोषण मे ही अपना जीवन गँवाता है और अपनी समस्त शक्ति का दुरुपयोग करता है।

धर्मात्मा मुनि जगल में एकाकी, देह की ममता से रहित होकर विचरण करते है। उस अवस्था में कभी सिह उनके शरीर को फाड डाले, या किसी तरह शरीर छिन्न-भिन्न हो जाये, या इस शरीर का कुछ भी हो जावे, उससे उनके ज्ञान और समाधि मे कोई बाधा नही है, ऐसा वे मानते है। ऐसे अवसर पर जिन्होने आत्मा की अनन्त-शक्ति प्रगट कर पूर्णता प्राप्त की या करेगे, वे धन्य है। ऐसा होने पर ही मनुष्यशरीर धारण करने की सार्थकता है। इसप्रकार धर्मात्मा शरीर की ममता छोडकर मुक्त होने की भावना को बलवती (दृढ) करता है। उसे एक क्षण भी ससार मे रहने या शरीर को रखने की रुचि नही है। वह अपने स्वरूप के लक्ष्य से जिनाज्ञा-चिन्तन की रुचि बढाते हुए, अबन्धभाव स्थिर रखते हुये प्रतिक्षण अनन्त कर्मों की निर्जरा करता है और मोक्षमार्ग की साधना करता है। वह मोक्ष की ओर अग्रसर होता जाता है, जबकि अज्ञानी जीव बन्धभाव करता हुआ ससार की चार गतियो में भ्रमण करने की ओर बढता है।

किसी को शका हो कि निगोद, नरक, देवलोक आदि नही है, तो उन सबकी एव परलोक आदि की स्थिति अनेक न्याय, दृष्टान्त, युक्ति एव प्रमाण से सिद्ध होती है।

'आत्मा नित्य है' – इस सिद्धान्त को भूलकर यह जीव अपने को शरीरादि की योग्यतावाला, रागद्वेषयुक्त, पुण्यवाला, बन्धवाला मानता रहा है, किन्तु उसने अपने को स्वाधीन निर्दोष, ज्ञाता, द्रष्टा, पर से भिन्न नही माना, इसलिए वह परवस्तु से प्रेम करता है, पुण्य देहादि द्वारा अपने को पहिचानने मे हर्ष मानता है। देह, पुण्यादि तो चेतन के सिर पर कलकस्वरूप है। कलक को शोभास्वरूप मानने से उसका छुटकारा कैसे हो? इसलिए सर्वप्रथम तत्त्व समझने का प्रयत्न करना जरूरी है। आत्मा त्रिकाल शुद्ध, अबधस्वभाववाला है। उसे पर-निमित्त से बन्धवाला, अपूर्ण, हीन या विकारी मानना सबसे बडा

श्रीमद् जवाहरात का व्यापार करते थे, फिर भी वे निवृत्ति चाहते थे और अपूर्व भावना करते थे कि उनका शरीरादि से सम्बन्ध नहीं है। देहादि के संयोग और विकाररूप कोई भी उपाधि उन्हें नहीं चाहिये थी, पूर्ण शुद्धात्मा के अतिरिक्त वे अपना कुछ भी नहीं समझते थे। 'पूर्ण सिद्धपद कब प्रगटे' – इस उद्देश्य से इसप्रकार का पुरुषार्थ वे निरंतर करते रहते थे। उस अपूर्व रुचि और पूर्ण पवित्र होने की तथा केवल निजस्वभाव में अखंडरूप से रहने की भावना से ऐसा प्रतीत होता है कि वे एक भव बाद मोक्षदशा को प्रगट करके पूर्ण पवित्र, निराकुल अनन्त आनन्द को प्राप्त करेंगे।

लोग सुख चाहते है, किन्तु उसके कारणो को मिलाते नही। वे दु ख को नही चाहते, किन्तु दुःख के कारणस्वरूप 'मोह' को नही छोडते, शरीरादि की ममता छोडना नही चाहते। वे दर्पण मे अपना रूप (शरीर) देखकर खुश होते है, वे शरीर को ठीक रखने के लिए अहभाव करते हुए अनेक तरह की विचित्र कल्पना करते है और उपाधि मे सुख मानते है, इस अपवित्र शरीर को सर्वस्व मानकर पागल हो जाते है और आकुलता को सुख कहते है।

ज्ञानी ऐसे जीवो को सबोधन करते है कि – "हे जीव ! तू देह, राग-द्वेष और पुण्य-पापादि से भिन्न है। एक बार सर्व परभाव से भिन्न हो तो मालूम होगा कि तेरे स्वभाव मे रचमात्र भी उपाधि नही है। एक बार मोहभाव से अलग होकर अपने स्वरूप के सन्मुख हो तो तेरा चैतन्य भगवान ही तेरी रक्षा करेगा अर्थात् तू स्वरूप में सावधान रह सकेगा।" – ऐसी वस्तुस्थिति प्रगट कर दिए जाने पर भी मोही जीवो को ससार की उपाधि का प्रेम नही छूटता, जबकि ज्ञानी धर्मात्मा अपनी असग अवस्था प्रगट करने की भावना करता है :–

> **"एक परमाणुमात्रनी मळे न स्पर्शता,**
> **पूर्ण कलकरहित अडोल स्वरूप जो।"**

जो इसप्रकार की भावना करते हुए जाग्रत जीवन व्यतीत करते है, वे मनुष्य-भव मे रहकर अपनी स्वाधीनदशा प्रगट कर धर्मरूपी तत्त्व प्राप्त करते है और करेगे। ससार की रुचि छोडे बिना यह परम तत्त्व कैसे समझा जावे ? जिसे पुण्यादि-परवस्तु मे सुखबुद्धि है, उसे ससार से अरुचि और सच्ची समझ कैसे हो ? स्वरूप की पहिचान हुए बिना विपरीत भाव दूर नही होता, इसलिए सर्वप्रथम शरीरादि की ममता कम कर सत्समागम करना आवश्यक है।

अनादिकाल से मोहनिद्रा व भूल मे पडा हुआ यह चैतन्य एक बार भी जाग्रत होकर ऐसा विचार करे कि "मै सर्व उपाधिरहित हूँ; कर्म-कलक से भिन्न असग हूँ, राग-द्वेष, पुण्य-पापादि परमाणुमात्र भी मेरे स्वभाव में नही है।"

यह जीव ऐसा विचार करे कि पराश्रय की श्रद्धा छोड़कर अपने अखण्ड स्वभाव का ज्ञान करके पूर्ण पवित्रतामय अपूर्व स्वभाव का अनुभव करके मैं वैसा ही हो जाऊँ। इसप्रकार पूर्णता प्राप्ति का अतीन्द्रिय पुरुषार्थ करके ऐसे आत्मा की शक्ति द्वारा स्वरूप की स्थिरता करके अनन्त जीवों ने पूर्ण, कलंकरहित, साक्षात्, महा आनन्द-स्वरूप मोक्षदशा को प्राप्त किया है, करते हैं और करेंगे।

✓ शुद्ध निरंजन चैतन्यमूर्ति अनन्यमय – 'निरंजन' अर्थात् मलादिक विकार या अंजन न होना। 'चैतन्यमूर्ति' – इस शब्द में 'चित्' धातु है, इसका अर्थ है केवलज्ञान या चित्। जैसे नमक की डली एक क्षाररस की लीला के अवलम्बन द्वारा आरम्भ से ही पूर्णरूप से भरी हुई है; वैसे ही जो एक ज्ञानस्वरूप का अवलम्बन करता है, वह केवलज्ञानरूप से भरपूर भरा हुआ स्वभाव का अनुभव में, श्रद्धा में आता है। उस स्वभाव को खण्डित करने में कोई समर्थ नहीं है। यह ज्ञानानन्द निजभाव स्वभाव से ही प्रगट होता है, इसे किसी ने बनाया नहीं है। जिसका ज्ञानानन्द-विलास हमेशा प्रगट है, वह अपना पदार्थ 'चैतन्य' है। इससे यह जीव सिद्ध परमात्मा, प्रगट चैतन्यमूर्ति कहलाता है।

'अनन्यमय' अर्थात् जिस-जैसा अन्य कोई नहीं। सिद्धात्मा शुद्ध, बुद्ध, एकस्वभाव को धारण करनेवाले हैं। प्रत्येक आत्मा शक्तिरूप से सिद्धपरमात्मा जैसा है।

अगुरुलघु अमूर्त सहज पदरूप जो – 'अगुरुलघु' नामक एक गुण है, जो छहों द्रव्यों में है। आत्मा और ज्ञानगुण अभेद वस्तु है। उस ज्ञानगुण में आत्मा के अनन्त गुणधर्म सन्निविष्ट हो जाते हैं, उसकी चेतनरूप अवस्था अनादि और अनन्तकालीन है। इस जीवद्रव्य का परिणमन उत्कृष्टरूप से हीनरूप हो तो वह निगोद में जाता है। वहाँ ज्ञानशक्ति बहुत ढँक जाती है, तो भी उसके अपने गुण का एक अंश भी जड़रूप नहीं होता और पूर्ण शुद्धस्वभाव प्रगट होने पर स्वगुण का पूर्ण परिणमन होते हुए भी वह अपने एकरूप स्वद्रव्य की मर्यादा का उल्लंघन कर अन्य द्रव्य में या अन्य आत्मा के प्रदेशों में प्रविष्ट नहीं

होता। ऐसा परिणमन 'अगुरुलघु' गुण के कारण से होता है। कोई गुण या कोई द्रव्य अन्यरूप न हो, यह भी अगुरुलघु गुण का कार्य है।

जीव वर्ण-गंध-स्पर्शरहित अमूर्तस्वरूप है। आत्मा सहजस्वभाव मे अनन्त आनन्दस्वरूप है, स्वाभाविक सिद्धस्वरूप पूर्ण आत्मपद है, जो अविनाशी सहजानन्द शुद्ध स्वरूप है। वह स्थिति शीघ्र प्रगट हो — यह भावना इस गाथा में की गई है ॥ १८ ॥ ●●●

वह कहिये ज्ञानी दशा

राग द्वेष अज्ञान यह, मुख्य कर्म की ग्रन्थ।
जिससे होवे निवृत्ति पन, वही मोक्ष का पन्थ ॥ १०० ॥

आत्मा सत् चैतन्य मय, सर्वाभास रहित।
जिससे केवल पाइये, मोक्ष-पथ वह रीत ॥ १०१ ॥

दया, शान्ति, समता, क्षमा, सत्य, त्याग, वैराग्य।
होत मुमुक्षु हृदय में, वहीं सदैव सुजाग ॥ १३८ ॥

मोह भाव क्षय होय जहाँ, अथवा होय प्रशान्त।
वह कहिये ज्ञानी दशा, बाकी कहिये भ्रान्त ॥ १३९ ॥

सकल जगत उच्छिष्टवत्, अथवा स्वप्न समान।
वह कहिये ज्ञानी दशा, बाकी वाचा ज्ञान ॥ १४० ॥

देही हैं फिर भी दशा, वर्ते देहातीत।
उन ज्ञानी के चरण में, हों वंदन अगणित ॥ १४२ ॥

— श्रीमद् राजचन्द्र : आत्मसिद्धि शास्त्र

छन्द १९

पूर्व-प्रयोगादि कारणना योगथी,
ऊर्ध्वगमन सिद्धालय प्राप्त सुस्थित जो;
सादि अनंत अनंत समाधि सुखमां,
अनंतदर्शन ज्ञान अनंत सहित जो।
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ॥१९॥

हिन्दी पद्यानुवाद

पूर्व प्रयोगादिक कारण के योग से,
ऊर्ध्वगमन हो सिद्धालय सुस्थित हो;
सादि-अनन्त, अनन्त समाधि सुखरता,
अनन्त दर्शन-ज्ञान अनन्त प्रकाश जो।
अपूर्व अवसर ऐसा कब मेरे आएगा ॥१९॥

छन्द १९ पर प्रवचन

आत्मा चौदहवें गुणस्थान से छूटकर अपने ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण लोक के अग्रभाग में स्थिर होता है। आत्मा सूक्ष्म और सम्पूर्ण शुद्धत्व होने पर भी लोक का द्रव्य होने से वह एक समय में लोकाग्र तक पहुँचता है।

यहाँ शंका उठती है कि जब आत्मा का ऊर्ध्वगमन-स्वभाव है, तब वह अब तक ऊपर क्यों नहीं गया? इसका समाधान यह है कि प्रत्येक जीव उच्चता उर्ध्वगमन चाहता है, किन्तु अपने अज्ञान के कारण देहादि-परवस्तु में राग-द्वेष-मोह द्वारा उपाधिरूप स्वरूप-स्थिरता नहीं करे, तब तक उसका ऊर्ध्वगमन स्वभाव प्रगट नहीं होता। जो मोक्ष-स्वभाव पहले शक्तिरूप में था, वह जीव के पूर्ण शुद्ध होने पर प्रगट होता है और उसीसमय 'ऊर्ध्वगमन-स्वभाव' नामक शक्ति प्रगट होती है।

देहादि कर्म-बन्धन से छूटने के बाद आत्मा नीचे नही रह सकता। आत्मा अरूपी, सूक्ष्म, हल्का है, हल्का पदार्थ ऊपर ही जाता है। मिट्टी लगी हुई तूंबी कुएँ में डालने पर नीचे जाती है, किन्तु मिट्टी उतर जाने पर वह तूंबी स्वयमेव ऊपर आ जाती है, उसीप्रकार चैतन्य भगवान आत्मा के साथ कर्म-पुद्गलपरमाणुओ का सम्बन्ध था, किन्तु उसको जब ज्ञान-ध्यान से दूर कर दिया, तब वह आत्मा पूर्ण कलकरहित स्वरूप मे – लोक के अग्रभाग में अचल विराजमान होता है।

अनादिकालीन अज्ञानभाव को दूर करने से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और तभी से पूर्ण-शुद्धता (मोक्षस्वभाव) की अवस्था प्रगट करने के लिये स्वरूप मे रहने का, अर्थात् ज्ञान की स्थिरता का पुरुषार्थ जीव प्रगट करता है। ऐसा गुण-श्रेणीरूप अन्तरग ज्ञान में प्रयत्न वह पूर्व-प्रयोग है और उसके द्वारा पूर्ण-शुद्धस्वरूप प्रगट हुआ, जिससे सहज ही आत्मा का ऊर्ध्वगमन हुआ। क्षेत्र की अपेक्षा जीव सिद्धालय-क्षेत्र को पाता है – ऐसा कहना व्यवहार है, क्योकि वह आकाश-क्षेत्र है। वास्तव मे मुक्त जीव स्वक्षेत्ररूप निश्चल स्वभाव में सादि-अनन्त स्थिर रहते हैं। जीव एक समय मे लोक के अग्रभाग में पहुँचकर स्वरूप में स्थिर रहता है।

शास्त्रो में पूर्व-प्रयोगादि के चार दृष्टान्त कहे गए हैं –

१ कुम्हार के चाक की तरह पूर्व-प्रयोग से आत्मा ऊपर जाता है।

२. ऐरड का बीज सूर्य के ताप में सूख कर चटकता है, तब उसकी मीजी आकाश में ऊँची जाती है, उसीप्रकार कर्मावरण का डिब्बा चैतन्य के – वीतरागता के ताप से जब खुलता है, तब आत्मा सहज ही आकाश में ऊँचा जाता है और तब नीचे आने के लिए किसी भी कर्म का निमित्त नही रहता।

३. अग्निशिखा की तरह अर्थात् जैसे अग्नि की ज्वाला आकाश की तरफ ऊँची जाती है, उसीप्रकार आत्मज्ञान-ज्योति ऊपर जाती है।

४ १८ वी गाथा में वर्णित तूँबी के दृष्टान्त की तरह आत्मा कर्मरहित होकर ऊपर जाता है। यह ध्यान रखना चाहिए कि दृष्टान्त एकदेशीय होते हैं, वे सब प्रकार से लागू नही होते।

'सिद्धालय प्राप्त सुस्थित जो' – चैतन्यरूप सिद्धात्मा का स्वक्षेत्र असख्यात प्रदेशी है, अरूपी चैतन्यमूर्ति अपने राज्य मे, शिव-सुख मे, सुशोभित पुरुषाकार मे, अपने स्वरूप-सिद्धक्षेत्र मे निश्चल निराबाधरूप से सदा ही स्थिर रहता है, फिर उसका जन्म-मरण नही होता – यह त्रिकाली नियम है। सिद्धक्षेत्र मे अनन्त सिद्ध-जीव हैं, तब भी एक आत्मद्रव्य अन्य आत्मद्रव्य में मिलता नही है, किन्तु सभी सिद्ध-आत्मा स्वतत्ररूप से स्वसत्ता को स्थिर रखते हुए नित्य रहते हैं। किसप्रकार ? जैसा कि कहा है :–

सादि अनन्त, अनन्त समाधि सुखमा,
अनन्तदर्शन ज्ञान अनन्त सहित जो।

आत्मा मे मोक्ष-पर्याय शक्तिरूप थी, उसका उत्पाद हुआ अर्थात् मोक्षस्वभाव प्रगट हुआ, परमात्म-पद प्रगट हुआ, यह 'आदि' हुई। अब यह आत्मा अनन्तकालपर्यन्त शाश्वत सिद्धपद में अपना अनन्तसुख भोगेगा अर्थात् निराकुल स्वभाव का अव्याबाध आनन्द लेगा, इससे वह 'अनन्त' है।

जीव सुख चाहते है। वह अनन्तसुख, सद्दर्शन और ज्ञानप्राप्ति से मिलता है, इसलिए सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन का उपाय करना चाहिये। सम्यग्दर्शन होने से समाधि प्रगट होती है। 'अपने शुद्धात्मस्वरूप का यथार्थ अनुभव' और अन्त मे 'समाधिमरण' जिसे 'पण्डितमरण' भी कहते है, जिसमें पूर्णज्ञान और स्वरूप की स्थिरता-सहित शरीर छूटता है। पूर्ण-स्वरूप समाधि सादि-अनन्त सुख मे सदा स्थिर रहने में है।

आत्मा का स्वभाव अनन्त आनन्द-सुखरूप है। पूर्ण शुद्धस्वरूप की श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता द्वारा मोक्ष-स्वभाव के प्रगट होने पर सहज आनन्द का स्वाद आता है, क्योकि वह सच्चा सुख स्वात्मा से उत्पन्न एव अविनाशी है। यहाँ चने का दृष्टान्त देते है। जैसे कच्चा

चना स्वाद मे कडवा लगता है और बो देने पर उगता है, किन्तु जब उसको सेककर खाया जाय, तब स्वाद मे मीठा लगता है और बोने पर नही उगता। चने की वह मिठास कढाई से या अग्नि मे से प्रगट नही हुई, वह चने मे से ही प्रगट होती है, वैसे ही श्रद्धा और ज्ञान की स्थिरता से कर्म-बन्धन की चिकनाई दूर कर वीतरागदशा प्रगट की जाय तो अपना अनन्त आनन्द – जो शक्तिरूप मे है, प्रगट होकर अतीन्द्रिय स्वाद देता है और फिर ससार-बीजरूप जन्म-धारण करना नही रहता।

प्रश्न :– शक्कर खाने पर उसकी मिठास का स्वाद आत्मा को कैसा लगता है ?

उत्तर :– शक्कर खाने से आत्मा तो कही मीठा नही होता। आत्मा सदा अरूपी होने से 'स्पर्श' नाम का मूर्तिक गुण उसमे नही है, आत्मा मीठेपन का ज्ञान करता है, वहाँ आत्मा मे जड का स्वाद प्रविष्ट नही होता। शक्कर का स्वाद कोई नही लेता, किन्तु उसके स्वाद को ज्ञानी जानता है और अज्ञानी उसमे राग करता है। शक्कर जड रूपी है, आत्मा अरूपी है। 'मै मीठा स्वादवाला हूँ' – यह मानकर अज्ञानी राग का अनुभव करता है अर्थात् तत्सम्बन्धी विपरीत ज्ञान कर रागरूप हर्ष को भोगता है। राग दु ख है, जबकि आत्मा का स्वभाव शान्ति एव आनन्दमय है, किन्तु अपने को भूलकर 'मै पर के सम्बन्धरूप उपाधिवाला हूँ, अशान्तिवाला हूँ' – ऐसा अज्ञानी जीव मानता है तो भी उसका जो आनन्द-शान्तिस्वभाव है, वह दूर नही होता। जैसे कच्चे चने मे स्वाद अप्रगट है, जो कि उसके सेकने पर उसमे से ही प्रगट होता है, वैसे ही चने में से आनन्द, शान्ति, असीम सुख शक्तिरूप मे है, जो यथार्थ विधि से प्रगट होता है।

भगवान आत्मा केवल आनन्दमूर्ति है, जो भूलकर उसे न्यून, हीन या विकारी मानता है, वह राग-द्वेष का कर्त्ता होता है और पर से सुख-दु ख की कल्पना कर व्याकुल होता है, हर्ष-शोक को भोगता है। जीव अपने ज्ञान मे केवल अस्थिरता भोगता है, कोई भी आत्मा, पर को नही भोगता। स्त्री, धन, इज्जत, देह, राग-द्वेषादि या कोई

भी परवस्तु आत्मा में प्रविष्ट नही होती। स्वय अतीन्द्रिय और शाश्वत होते हुए भी, अज्ञानी अपने को भूलकर परवस्तु मे ममता द्वारा राग-द्वेष करता है और हर्ष-शोकरूप अपनी विकारी अवस्था को भोगता है। बिच्छू जब काटे तो दु ख होता है, तब ज्ञानी यह मानता है कि यह देह की ममता का राग है। बिच्छू के जहर का परमाणु अरूपी आत्मा मे प्रविष्ट नही होता, किन्तु अज्ञानी आत्मा अपने को भूलकर देह के स्वामित्व द्वारा 'मैं दुखी हूँ' – ऐसा मानता है। वह स्वय अपने को पररूप होना मानता है, किन्तु असल मे वह वैसा नही हो जाता। यदि वह परभावरूप हो जावे, तो क्षमा, शान्ति, आनन्द, ज्ञान आदि स्वगुणमय नही हो सकता।

आत्मा ज्ञानत्व से सदा प्रगट है तो भी उसे अन्य मानना या उसमें पर का कर्तृत्व या भोक्तृत्व मानना अज्ञानभाव है। यह अज्ञानमयभाव क्षणिक होने से ज्ञानमयभाव द्वारा दूर हो सकता है। इससे सिद्ध होता है कि निजशुद्धस्वरूप मोक्ष आत्मा का स्वभाव है, बन्धन, भूल, अशुद्धत्व उसका स्वभाव नही है। अनन्तज्ञान, अनन्तसुख, अनन्तश्रद्धा और अनन्तवीर्य से आत्मा परिपूर्ण है। जिसका सहज स्वभाव 'शुद्ध' ही है, उस स्वभाव की सीमा या अन्त क्या? यह निज तत्त्व जैसा है, वैसा पहचाना जाय तो यह आत्मा अन्त में पूर्ण कृतकृत्य होकर सहज स्वतत्र सुखदशा प्रगट करेगा ही।

शास्त्र में कहा जाता है कि सब जीवात्मा सुख चाहते है, किन्तु वे सुख के कारणो का सयोजन नही करते। अनन्तसुख का कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। ससारी जीवो ने उस मार्ग को ठीक रूप में कभी सुना नही, कभी अपनाया नही। अत. वे सुख तो चाहते है, किन्तु दु ख के कारणो को नही छोडते। दु ख नाम 'अशाति' का है। उस अशाति का कारण अज्ञान अथवा दर्शनमोह-मिथ्यात्व है, स्वरूप की भूल है। उस विपरीत-मान्यतारूप अज्ञान का अभाव सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से ही होता है।

सत्य पुरुपार्थ द्वारा पुण्य-पाप और राग-द्वेपरूप उपाधि से भिन्न ज्ञानानन्द स्वरूप की श्रद्धा एव समझ द्वारा स्वरूप स्थिरता क्रमश

पूर्णरूप से प्रगट होती है और उससे सादि-अनन्त निराकुलरूप सुखदशा प्रगट होती है। निराकुलता का तात्पर्य आधि, व्याधि और उपाधिरहित शाति से है।

आधि — मन की चिता मन के शुभाशुभ विकल्परूप विकारी कार्य, अर्थात् चैतन्य की अस्थिरता।
व्याधि — शरीर की रोगादि विषयक चिता।
उपाधि — स्त्री, धन, पुत्र, इज्जत आदि की चिता।

उपर्युक्त आधि, व्याधि और उपाधिरूप आकुलता से रहित सहजानन्दरूप सुखदशा है। उस अनन्त समाधि-सुख मे अनन्त सिद्ध भगवान सादि-अनन्तकाल तक विराजमान है।

अनन्त दर्शन ज्ञान अनन्त सहित जो — आत्मा में अनन्तवीर्य (स्वसामर्थ्य-विशेपरूप बल) होने से उसके समस्त गुण अनन्तशक्ति वाले ही है। जिस आत्मा ने अनन्त आनन्द, दर्शन, ज्ञान, शक्ति को भूलकर विपरीत परिणमन किया है; वही आत्मा अनन्त स्वाधीनता का भान कर अनन्त दर्शन, ज्ञान, वीर्य और आनन्द को अपनी शक्ति मे से प्रगट कर सकता है, किन्तु जब तक अपने स्वरूप का भान नही है, तब तक वह अपने ही कारण पराधीन है और उसी से वह दुखी है। पराधीन जीव को स्वप्न मे भी सुख नही है।

ज्ञानी धर्मात्मा एक परमाणु से लेकर इन्द्रपद-चक्रवर्तीपद जैसी किसी भी प्रकार की पुण्य की पराधीनता की इच्छा नही करता। उसे विश्वास है कि स्वाधीनता का पुरुषार्थ करने से ही मोक्षस्वभाव प्रगट होता है। ज्ञानी शुभ-विकल्प भी नही चाहता, क्योकि शुभ-परिणाम भी मोक्ष-प्राप्ति मे बाधक है।

पुण्य-पापरूप राग-द्वेष का अवलम्बन पराधीनता है। ज्ञानी कहता है कि ससारी जीव सुख तो चाहते है, किन्तु जो सुख का मार्ग है, उसे भूलकर पराधीनता का कार्य करते है, तब उससे स्वाधीनता का फल कैसे प्रगट होगा? विकारी रागरूप कारण मे से अविकारी वीतराग-कार्य प्रगट नही होता। अत प्रथम सच्ची-समझपूर्वक आत्मा की रुचि करने की जरूरत है।

यहाँ सम्यग्दर्शन सहित पूर्ण शुद्ध-स्वरूप की रुचि और तद्रूप-पुरुषार्थस्वरूप 'अपूर्व अवसर' की प्राप्ति की भावना है।

'अनन्त दर्शन ज्ञान अनन्त सहित जो।'

चेतना आत्मा का गुण है, वह दो प्रकार का है :-

१ दर्शनचेतना – इसका व्यापार निर्विकल्प, निराकार और सामान्य प्रतिभास है।

२. ज्ञानचेतना – इसका व्यापार सविकल्प (स्व-पर प्रकाशक) साकार और विशेष प्रतिभास है।

दर्शन का लक्षण सामान्य सत्तामात्र अवलोकन है। उसमें स्व-पर का भेद नहीं है। अब दर्शनोपयोग की व्याख्या की जाती है –

एक पदार्थ-सबंधी ज्ञान का विकल्प छूटकर दूसरे पदार्थ की तरफ उत्सुकता जैसा झुकाव हुआ और तब जहाँ तक दूसरे पदार्थ-सम्बन्धी ज्ञान नहीं हुआ, उस बीच (अल्प समय) में सामान्य प्रतिभासरूप दर्शनचेतनामय उपयोग होता है। यह व्याख्या छद्मस्थ जीव के दर्शन-उपयोग की है। सिद्ध भगवान और केवलज्ञानी सर्वज्ञ के एक ही समय में ज्ञान और दर्शन उपयोग एकसाथ वर्तते हैं। उनके अनन्त-सामर्थ्यस्वरूप दर्शन और ज्ञान उपयोग युगपत् हैं, उसमें विश्व के समस्त जीव-अजीव द्रव्यों के सामान्य-विशेषरूप सर्वभाव एकसमय-मात्र में सहज जाने जाते हैं। निश्चय से सर्वज्ञ के अनन्त दर्शन-ज्ञान की असीम अनन्त शक्ति (वीर्य) है और अनन्त सुख है तथा समस्त गुणों को स्थिर रखनेवाला यह अनन्तवीर्य (बल) नामक गुण ही है। ऐसे अनन्त गुणोंवाली पूर्ण परमात्मदशा प्रगट हो – ऐसा 'अपूर्व अवसर' कब आवे ? इसकी यहाँ भावना की गई है ॥१९॥

वचनामृत वीतराग के, परम शान्त रसमूल।
औषध जो भवरोग की, कायर को प्रतिकूल ॥

ज्ञान-ध्यान वैराग्यमय, उत्तम जहाँ विचार।
जो भावता शुभ भावना, वह उतरे भव पार ॥

– श्रीमद् राजचन्द्र : वैराग्य भावना, उपसंहार

छन्द २०

जे पद श्री सर्वज्ञे दीठूं ज्ञानमां,
कही शक्या नहीं पण ते श्री भगवान जो;
तेह स्वरूपने अन्य वाणी ते शुं कहे,
अनुभवगोचर मात्र रह्युं ते ज्ञान जो।
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ।।२०।।

हिन्दी पद्यानुवाद

जो पद श्री सर्वज्ञ ने जाना ज्ञान में,
उसे न तीर्थंकर की वाणी कह सकी;
अनुभवगोचर मात्र ज्ञान है यह अरे,
उस स्वरूप को किसकी वाणी कह सके।
अपूर्व अवसर ऐसा कब मेरे आएगा ।।२०।।

छन्द २० पर प्रवचन

केवली भगवान ने तेरहवे गुणस्थान मे जो लोकालोक का सपूर्ण स्वरूप जाना है, उसे वे स्वयं भी वाणी द्वारा पूर्णरूप से व्यक्त नहीं कर सकते हैं, क्योकि वाणी जड है। अत. जो जितना ज्ञानगम्य है, उतना वचन में नही आता। जो स्वरूप सर्वज्ञ भगवान ने केवलज्ञान में पूर्णतया जाना है, उसे वाणी द्वारा तो साक्षात् तीर्थंकर भगवान भी पूर्णतया नही कह सकते। सर्वज्ञ भगवान स्व-पर सर्व पदार्थों को प्रत्यक्ष जानते है, छद्मस्थ ज्ञानी परोक्षज्ञान द्वारा जानते है, केवलज्ञान के समान प्रत्यक्ष नही जान सकते; फिर भी अपने आत्मा को लक्ष्य मे लेकर स्वानुभव द्वारा अपने स्वरूप की शान्ति-आनन्द का स्वसवेदन-प्रत्यक्ष से जानते है, आनन्द का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते है।

स्वसन्मुखतारूप भावश्रुतज्ञान-उपयोग की स्थिरता के समय जो आनन्द स्वसवेदन-अपेक्षा प्रत्यक्ष है, वह आंशिक प्रत्यक्ष है। (सर्वथा प्रत्यक्ष तो केवलज्ञान में ही है) जैसे अंधा मनुष्य शक्कर खाता है, उसकी मिठास अनुभवता है, किन्तु उसका आकार नही देख सकता,

वैसे ही चौथे व आगे के गुणस्थानो में आत्मा के आनन्द का आशिक अधिकाधिक अनुभव तो होता है, किन्तु उन गुणस्थानो मे आत्मप्रदेश प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नही होते ।

केवलज्ञान प्रगट होने के साथ ही अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य प्रगट होते है । वे केवली यदि तीर्थंकर हो तो उनके आत्मा को प्रकाशित करनेवाली ॐरूप दिव्यध्वनि सहज ही खिरती है । अपनी इच्छा विना भाषा सहज ही खिरती है । अपनी इच्छा विना भाषा सहज ही प्रस्फुटित होती है । उसमे वे भगवान आत्मा का जो अरूपी ज्ञानघन-स्वभाव है, उसे तथा छह द्रव्यो मे सन्निहित जो अनन्त धर्म है, उनको अनेकान्त न्याय से समझाते है ।

जड-वाणी द्वारा अल्प सकेतमात्र किया जा सकता है और चतुर पुरुष उसे समझ लेता है । अनन्त जड रजकणो से निर्मित वाणी द्वारा आत्मा का वर्णन पूर्णरूप से नही हो सकता, किन्तु भव्यजनो के अनन्त उपकार की निमित्तरूप अद्भुत वाणी का योग तीर्थंकर भगवान के होता है । गणधरदेव ने उस वाणी के आधार पर बारह-अगरूप विशाल शास्त्रो की रचना की, किन्तु फिर भी अत में यही कहा कि इस शास्त्ररचना मे स्थूल कथन ही है ।

जड-वाणी द्वारा अरूपी अतीन्द्रिय भगवान आत्मा का सपूर्ण वर्णन कैसे हो सकता है, फिर भी उसका साकेतिक विवेचन किया गया है । अनेक नय, प्रमाण, निक्षेपो द्वारा पदार्थों का स्थूल और सूक्ष्म कथन न्यायपूर्वक किया गया है । आत्मा निरपेक्ष तत्त्व है, वह पर-निमित्त की अपेक्षा से रहित है, फिर भी कथन-भेद द्वारा अनेकात-धर्म-सहित उसका कथन किया गया है । जड वाणी आत्मा का कितना कथन कर सकती है ? किन्तु श्रोता स्वय शब्दादि से भिन्न वाच्यार्थरूप आत्मा को सत्समागम और गुरु उपदेश द्वारा समझ सकता है ।

आत्मतत्त्व अनुपम होने से किसी जड वस्तु के साथ उपमा देकर उसकी तुलना नही की जा सकती । जब खानेवाला गाय के ताजे घी का स्वाद तो अनुभव कर सकता है, किन्तु उसकी अन्य वस्तु से उपमा देकर तुलना कर उसका सतोषजनक वर्णन नही कर सकता,

तो फिर अरूपी अतीन्द्रिय आत्मा का वर्णन विकल्प और वाणी द्वारा कैसे किया जा सकता है ? वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा तीर्थंकरदेव के वाणी का योग था किन्तु वे भी आत्मा का वर्णन पूर्णरूप से नही कर सके, उन्होने तो कथचित् सकेत द्वारा ही आत्मा का वर्णन किया है।

आत्मा के अनुभवी वर्तमान ज्ञानी पुरुष अन्य भव्यजीवो को वाणी द्वारा सर्वप्रथम जीव का लक्षण बताते है, फिर बाद मे लक्षण द्वारा वस्तुतत्त्व समझाते है। जैसे कोई पुरुष सकेत कर बतावे कि नीम की शाखा के ऊपर बाँयी बाजू में चन्द्रमा है, तत्पश्चात् उस सकेत को समझनेवाला लक्ष्य पर दृष्टि करे तो चन्द्रमा दिखेगा, किन्तु अगुली, वृक्ष आदि निमित्तो पर दृष्टि करे तो चन्द्रमा नही दिखेगा। उसीप्रकार भव्य जीव श्रीगुरु के पास रहकर सत्समागम द्वारा अभ्यास करे और श्रीगुरु अतीन्द्रिय आत्मा को अनेक नय-प्रमाण आदि द्वारा उसे समझावे और उससे परमार्थ को शिष्य समझ जावे, तो वह सद्बोधरूपी चन्द्रोदय का दर्शन करे और पुरुषार्थ द्वारा पूर्णता को प्राप्त करे, किन्तु ज्ञानी के आशय को यदि वह नही समझे तो सद्बोधरूपी चन्द्रोदय का दर्शन नही हो सकता। स्वरूप समझने के लिये सावधान होकर समस्त विरोधो को दूर कर शिष्य श्रीगुरु के आशय को समझे, तो उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो और साथ ही स्वभाव की पूर्णता प्राप्त करने के लिये पुरुषार्थ की स्थिरता हो।

द्वितीया के चन्द्रमा का दर्शन निम्न तथ्य प्रकाशित करता है –

१ – वह पूर्ण चन्द्रमा का आकार बताता है। २ – उससमय वह कितना उघडा हुआ है। तथा ३ – कितना उघडना शेष है।

इसीप्रकार साधक पूर्णता के लक्ष्य से पुरुषार्थ करता है, वह पुण्यादि उपाधियो को देखकर उनमें अटकता नही। अपने अखड शुद्धात्मा पर ही उसकी दृष्टि है। इससे पूर्ण आत्मा कैसा है, कितना विकासरूप-अनावृत्त है, कितना अनावृत्त होना शेष है, यह सब जानते हुए वह शीघ्र पूर्णता को प्राप्त करता है।

जिन्होने अपने आत्मा की महिमा नही जानी, उसकी रुचि नहीं की – मै कौन हूँ, मै क्या कर सकता हूँ और क्या नही कर सकता,

उन्हे तत्वज्ञान जरा भी नही है । धर्म के नाम पर वे बाह्य मे जो कुछ करे मिथ्या है, वह आत्महित मे साधक नही है । अपनी योग्यता और सदगुरु के उपदेश बिना हिताहित का विवेक जागृत नही होता । अनन्तकाल तक अपने को भूलकर अन्य बहुत-कुछ किया, किन्तु उससे ससार-भ्रमण ही हुआ ।

श्री गणधरदेव हजारो सत-मुनियो के नायक, तीर्थकर भगवान के प्रधान थे । श्री भगवान की वाणी के आशय को, विशाल रूप मे धारणकर रखनेवाले वे चार ज्ञान के धारी थे । उन्होने भगवान की वाणी का आशय ग्रहण कर जिन-सूत्रो की बारह अगरूप रचना की थी । १ श्री सर्वज्ञ भगवान ने केवलज्ञान द्वारा जैसा आत्मस्वरूप जाना, उसका अनन्तवाँ भाग वे वाणी द्वारा कह सके, २ जितना वाणी द्वारा पदार्थ का कथन हुआ, उसका अनतवाँ भाग श्री गणधरदेव अपने ज्ञान मे ग्रहण कर सके और ३ उससे भी अनतवाँ भाग दूसरो को समझा सके ।

हजारो सन्त-मुनिवरो मे अग्रसर ऐसे श्री गणधरदेव ने जगत के हित के लिए जिन बारह अगो की रचना की, उसका मुख्य सार 'श्री समयसारजी' शास्त्र मे है, फिर भी कागज, शब्द, वाणी आदि अनन्त रजकणो के समूह द्वारा और मन के विकल्प द्वारा अतीन्द्रिय आत्मा का वर्णन पूर्ण नही हो सकता, किन्तु कथचित् शब्द द्वारा, नय-प्रमाणदृष्टि के भद द्वारा, आत्मा को बताया जा सकता है । आत्मतत्त्व सर्वथा अवक्तव्य नही है ।

आत्मा मन, वाणी और इन्द्रियो से भिन्न है, इसलिए –

तेह स्वरूपने अन्य वाणी ते शु कहे ?
अनुभवगोचरमात्र रह्यु ते ज्ञान जो ।।

जिसको सम्यग्दर्शन द्वारा स्वानुभव हुआ, उसने पूर्ण शुद्धता के लक्ष्य से आशिक स्वानुभव-सहित पूर्ण द्रव्य को जान लिया है । 'मै शुद्ध हूँ, मुक्त हूँ' – ऐसे मन के विकल्पो द्वारा स्वरूपानन्द का अनुभव नही होता, किन्तु रागरहित ज्ञान की स्व में स्थिरता (एकाग्रता) द्वारा सम्यग्ज्ञानी अपने आत्मा को परोक्ष और प्रत्यक्ष-प्रमाण से जानता है, इससे वह केवल (मात्र) ज्ञानगम्य है ।।२०।।

छन्द २१

एह परमपद प्राप्तिनुं कर्युं ध्यान में,
गजा वगर ने हाल मनोरथरूप जो;
तो पण निश्चय राजचन्द्र मनने रह्यो,
प्रभु आज्ञाए थाशुं ते ज स्वरूप जो।
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ।।२१।।

हिन्दी पद्यानुवाद

यही परमपद प्राप्त कर सकूँ ध्यान में,
मनन-चिंतवन आत्म मनोरथ रूप हो;
तो यह निश्चय राजचन्द्र मन में धरो,
प्रभु आज्ञा से पाऊँ स्वयं स्वरूप को;
यही मार्ग जीवन को सफल बनाएगा,
समयसार का सार मुझे मिल जायेगा।
अपूर्व अवसर ऐसा कब मेरे आएगा ।।२१।।

छन्द २१ पर प्रवचन

'अपूर्व अवसर' काव्य पूर्ण करते हुए श्रीमद् राजचन्द्र कहते हैं कि मैंने पूर्ण शुद्ध आत्मस्वरूप की पूर्ण पवित्र स्थिति को प्राप्त करने के लिए स्वानुभव के लक्ष्य से ध्यान किया; किन्तु अभी वह सामर्थ्य से बाहर और मनोरथरूप ही है। मनन-चिन्तनरूपी रथ द्वारा अपूर्व रुचि से पूर्णता की भावना करता हूँ। पूर्णता की प्राप्ति के लिए जैसा पुरुषार्थ और स्वरूप-स्थिरता होनी चाहिए, वह वर्तमान में सुलभ नहीं है।

यथार्थ निर्ग्रन्थता के पुरुपार्थ करनेरूप शक्ति मे वर्तमान में निर्मलता दृष्टिगोचर होती है, किन्तु वर्तमान में भी दर्शनविशुद्धि अवश्य है। इससे निश्चय शुद्धस्वरूप के लक्ष्य से एक भव बाद, जहाँ साक्षात् सर्वज्ञ प्रभु तीर्थंकर विराजमान होंगे, वहाँ प्रभु-आज्ञा

आत्मा का चारित्र धारण कर निर्ग्रन्थ-मार्ग में उत्कृष्ट साधक-स्वभाव का विकास कर बीसवी गाथा में वर्णित परमपद पाऊँगा। वीतराग की आज्ञा का बहुमान करते हुए साधक कहता है कि मेरे आत्मा में ऐसा नि सदेह निश्चय है कि मुझे अगले जन्म के बाद पुनः शरीर धारण नहीं करना है।

'प्रभु-आज्ञा' स्वीकार करने का तात्पर्य है कि सर्वज्ञ वीतराग भगवान ने जैसा चैतन्य-स्वभाव जाना है और जिस उपाय से परमपद प्राप्त किया है, उसी के अनुसार मुझे भी प्रवृत्त होना है। जिनाज्ञानुसार निर्ग्रंथ मार्ग मे वीतराग-स्वरूप की आराधना कर परमात्मस्वरूप की प्राप्ति करूँगा, उसमे किसी प्रकार की शका नही है – ऐसा दृढ विश्वास साधक ने अपने आत्मा मे निश्चित किया है।

जिसकी अनुभव-दशा मे इसप्रकार की नि शकता हो, उसका एक ही भव बाकी है, यह श्रीमद् ने 'प्रभु-आज्ञा' का विश्वास करके कहा है। 'प्रभु-आज्ञा' महान सूत्र है, उसमे भगवान सर्वज्ञ के ज्ञान मे गर्भित आज्ञा और उसके साथ अपने आराधक भावो की सधि का यथार्थ निर्णय सन्निहित है। जो श्री राजचन्द्रजी ने स्वानुभव-प्रमाण प्रमाण द्वारा निर्णय किया है, उसमे 'मोक्षस्वरूप प्रगट करूँगा' – ऐसा ध्वनित होता है। ऐसी ध्वनि का 'अपूर्व अवसर' कब आवेगा ? यह महामगलमय भावना करते हुए श्रीमद् ने 'अपूर्व अवसर' नामक मगल-काव्य पूर्ण किया है ।।२१।।

● ● ●

अविषम उपयोग को नमस्कार !

विषम भाव (विपरीत भाव) के निमित्त बलजबरी से प्राप्त होने पर भी जो ज्ञानी पुरुष अविषम उपयोगरूप परिणमित हुए हैं, हो रहे हैं और भविष्यकाल में परिणमित होंगे, उन सभी को बारबार नमस्कार हो। श्रेष्ठ से श्रेष्ठ व्रत, श्रेष्ठ से श्रेष्ठ तप, श्रेष्ठ से श्रेष्ठ नियम, श्रेष्ठ से श्रेष्ठ लब्धि, श्रेष्ठ से श्रेष्ठ ऐश्वर्य आदि जिसमें समाहित होते हैं – ऐसे निरपेक्ष अविषम उपयोग को नमस्कार हो। – यही ध्यान है।

– श्रीमद् राजचन्द्र

परमपद-प्राप्ति की भावना

अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ?
क्यारे थइशु बाह्यांतर निर्ग्रन्थ जो ?
सर्व सम्बन्धनुं बधन तीक्ष्ण छेदीने,
विचरशु कब महत्पुरुषने पथ जो ॥ अपूर्व० ॥ १ ॥

सर्व भावथी औदासीन्य वृत्ति करी,
मात्र देह ते संयमहेतु होय जो,
अन्य कारणे अन्य कशुं कल्पे नहीं,
देहे पण किंचित् मूर्छा नव जोय जो ॥ अपूर्व० ॥ २ ॥

दर्शनमोह व्यतीत थई उपज्यो बोध जे,
देह भिन्न केवल चैतन्यनु ज्ञान जो;
तेथी प्रक्षीण चारित्रमोह विलोकिये,
वर्ते एवुं शुद्ध स्वरूपनु ध्यान जो ॥ अपूर्व० ॥ ३ ॥

आत्मस्थिरता त्रण सक्षिप्त योगनी,
मुख्यपणे तो वर्ते देह पर्यंत जो;
घोर परिषह के उपसर्ग भये करी,
आवी शके नहीं ते स्थिरतानो अत जो ॥ अपूर्व० ॥ ४ ॥

सयमना हेतुथी योग प्रवर्तना,
स्वरूप लक्षे जिन आज्ञा आधीन जो;
ते पण क्षण क्षण घटती जाती स्थितिमा,
अते थाये निजस्वरूपमां लीन जो ॥ अपूर्व० ॥ ५ ॥

पञ्च विषयमां राग-द्वेष विरहितता,
पञ्च प्रमादे न मळे मननो क्षोभ जो,
द्रव्य, क्षेत्र ने काल, भाव प्रतिबधवण,
विचरवु उदयाधीन पण वीतलोभ जो ॥ अपूर्व० ॥ ६ ॥

क्रोध प्रत्ये तो वर्ते क्रोध स्वभावता,
मान प्रत्ये तो दीनपणानु मान जो;
माया प्रत्ये साक्षी माया भावनी,
लोभ प्रत्ये नहीं लोभ समान जो ॥ अपूर्व० ॥ ७ ॥

बहु उपसर्ग-कर्त्ता प्रत्ये पण क्रोध नहीं,
वदे चक्री तथापि न मळे मान जो;
देह जाय पण माया थाय न रोममां,
लोभ नहीं छो प्रबल सिद्धि निदान जो ।। अपूर्व० ।। ८ ।।

नग्न भाव मुंडभाव सह अस्नानता,
अदत धोवन आदि परम प्रसिद्ध जो;
केश रोम नख के अंगे शृंगार नहीं,
द्रव्य-भाव संयममय निर्ग्रन्थ सिद्ध जो ।। अपूर्व० ।। ९ ।।

शत्रु मित्र प्रत्ये वर्ते समदर्शिता,
मान अमाने वर्ते ते ज स्वभाव जो;
जीवित के मरणे नहीं न्यूनाधिकता,
भव मोक्षे पण शुद्ध वर्ते समभाव जो ।। अपूर्व० ।। १० ।।

एकाकी विचरतो वळी स्मशानमा,
वळी पर्वतमां वाघ सिंह संयोग जो;
अडोल आसन ने मनने नहीं क्षोभता,
परम मित्रनो जाणे पाम्या योग जो ।। अपूर्व० ।। ११ ।।

घोर तपश्चर्यामा पण मनने ताप नहीं,
सरस अन्ने नहीं मनने प्रसन्नभाव जो;
रजकण के ऋद्धि वैमानिक देवनी,
सर्वे मान्या पुद्गल एक स्वभाव जो ।। अपूर्व० ।। १२ ।।

एम पराजय करीने चारित्तमोहतो,
आव्यु त्या ज्या करण अपूर्व भाव जो;
श्रेणी क्षपकतणी करीने आरूढता,
अनन्य चिंतन अतिशय शुद्ध स्वभाव जो ।। अपूर्व० ।। १३ ।।

मोह स्वयंभूरमण समुद्र तरी करी,
स्थिति त्या ज्या क्षीणमोह गुणस्थान जो;
अंत समय त्यां पूर्णस्वरूप वीतराग थई,
प्रगटावु निज केवलज्ञान निधान जो ।। अपूर्व० ।। १४ ।।

चार कर्म घनघाती ते व्यवच्छेद ज्यां,
भवनां बीज तणो आत्यंतिक नाश जो;
सर्व भाव ज्ञाता दृष्टा सह शुद्धता,
कृतकृत्य प्रभु वीर्य अनंत प्रकाश जो ।। अपूर्व० ।। १५ ।।

वेदनीयादि चार कर्म वर्ते जहां,
जली सींदरीवत् आकृति मात्र जो;
ते देहायुष आधीन जेनी स्थिति छे,
आयुष पूर्णे मटिये दैहिकपात्र जो ।। अपूर्व० ।। १६ ।।

मन, वचन, काया ने कर्मनी वर्गणा,
छूटे जहां सकल पुद्‌गल संबंध जो;
एवुं अयोगी गुणस्थानक त्यां वर्ततु,
महाभाग्य सुखदायक पूर्ण अबंध जो ।। अपूर्व० ।। १७ ।।

एक परमाणु मात्रनी मळे न स्पर्शता,
पूर्ण कलंक रहित अडोल स्वरूप जो;
शुद्ध निरंजन चैतन्यमूर्ति अनन्यमय,
अगुरुलघु अमूर्त्त सहजपदरूप जो ।। अपूर्व० ।। १८ ।।

पूर्व प्रयोगादि कारणना योगथी,
उर्ध्वगमन सिद्धालय प्राप्त सुस्थित जो;
सादि अनत अनंत समाधि सुखमां,
अनंत दर्शन ज्ञान अनंत सहित जो ।। अपूर्व० ।। १९ ।।

जे पद श्री सर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमां,
कही शक्या नहीं पण ते श्री भगवान जो;
तेह स्वरूपने अन्यवाणी ते शुं कहे ?
अनुभवगोचर मात्र रह्युं ते ज्ञान जो ।। अपूर्व० ।। २० ।।

एह परमपद प्राप्तिनु कर्युं ध्यान में,
गजा वगर ने हाल मनोरथ रूप जो;
तो पण निश्चय राजचन्द्र मनने रह्यो,
प्रभु आज्ञाए थाशुं ते ज स्वरूप जो ।। अपूर्व० ।। २१ ।।